शारीर तत्व मीमांसा

आयुर्वेदमार्तण्ड पं. रामस्वरूप शास्त्री
आयुर्वेदाचार्य

शारीर तत्व मीमांसा

आयुर्वेदमार्तण्ड पं० रामस्वरूप शास्त्री
आयुर्वेदाचार्य

—दो शब्द—

श्री आनन्द कन्द योग योगेश्वर, महाप्रभुजी के जन्मोत्सव राम नवमी के परम पुनीत दिवस पर श्री सिद्ध गुफा सवाई, में, परमाराध्य गुरुदेव श्री १००८ स्वामी चन्द्रमोहन जी महाराज से दीक्षा ग्रहण कर गुफा से ज्यों ही बाहर आया, श्री पूज्य टाट बावा (श्री रघुनन्दन प्रसाद) जी द्वारा भविष्य वाणी स्वरूप, घर पुत्र जन्म का शुभ संवाद सुन आनन्दातिरेक के कारण, उसका नामकरण प्रभुजी के अनुरूप "आनन्द प्रकाश" निश्चित कर, प्रभु प्रसाद ग्रहण कर घर लौटा। निश्चय किया कि इस बालक को आयुर्वेद का अध्ययन करा प्रभुजी के चारणारविन्द का अनुगामी बनाऊँ। इसके जन्म के साथ ही मेरे जीवन में एक नया अध्याय शुरू हुआ।

प्रेरणा—गुरुदेव के आदेशानुसार ध्यान में बैठता, पर ध्यान नहीं जंचता था। किंचत् आभास मात्र प्रतीत होता। निराश न हुआ, समय पर गुरुदेव की आज्ञा का पालन होता रहा। समयचक्र धुरी अपनी गति में पूर्ण रूप से चलती रही।

आषाढ़ पूर्णिमा सन् १९५७ को संध्या समय हंसराज तीर्थ सफीदों में ध्यान में नित्य की भांती बैठा तो प्रभुजी के चित्र के सामने गुरुदेव के वरद हस्तमुद्रा में दर्शन हुए, और आदेश मिला—दोष धातु मल मूलंहिं शरीरम्। इस पर निबंध लिखो।

आज्ञा शिरो धार्य कर लेखिनी संभाली और लिखना प्रारम्भ किया। यह क्रम अनुदिन चलता रहा और निबंध पूर्ण हुआ, इसके लेखन में महामहिम पं० सत्य देवजी, वासिष्ठ नाड़ी तत्वदर्शन प्रणेता, का विशेष परामर्श मिला जिनके थोड़े समय के सानिध्य से ही मुझे बहुत कुछ मिला अतः श्री वाशिष्ठ जी का मैं हृदय से आभार मानता हूं। अन्यच्च,

महर्षिगण चरक सुश्रुत वाग्भट्ट आदि को भी शतशः नमन करता हूं कि जिन की दिव्य ज्योति से मुझे प्रकाश मिला। विशेषतः अपने सद गुरुदेव १००८ स्वामी चन्द्रमोहन जी महाराज के चरण कमलों में प्रति क्षण अभिवादन करता हूं। जिनकी सद् प्रेरणा तथा शुभाशीर्वाद से अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी इसे पूर्ण कर सका

बाधा—इसके मुद्रण का प्रवध कर ही रहा था कि भाग्य की विडम्बना से एक ऐसे व्यक्ति से संपर्क हुआ, जिससे ८ वर्ष धूल ढोते ही व्यतीत हुए। "अस्तु प्रभो इच्छावलीयसी" के आधार पर अमारात्री के व्यतीत होने पर प्रकाश का उदय हुआ।

इसके मुद्रण में—

श्री सेठ घनश्याम दास जी एवं इनके ज्येष्ठ पुत्र श्री नन्द कुमार (हैदराबाद)।

श्री जयन्त भाई चौकसी एवं नयन भाई चौकसी (बम्बई) का सहयोग विशेष रूप से मिला एतदर्थ इनका हृदय से आभारी हूं। साथ ही श्री रायकुमार जी श्रीमाल (डीडवाना) का भी आभार मानता हूं, जिन्होंने समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित किया

श्री वेद प्रकाश जी शास्त्री (हैदराबाद) ने भूमिका लेखन। कर इस निबंध को अपनी लेखनी से अलंकृत किया।

किं बहुना विद्वत् समाज के करकमलों में यह सुमन प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता है। तथा आशा करता हूं कि विद्वद्वर्ग इस के दोषों की ओर ध्यान न दें। इसकी उपादेयता को ही प्रश्रय देगा।

गच्छतः स्खलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः॥

चैत्र शुक्ल राम नवमी १९७९, विदुषां चरण चंचरीकः

कायाकल्प स्वास्थ्य सदन, रामस्वरूप शास्त्री,

सफीदों (हरियाणा)

॥ श्री धन्वन्तरये नमः ॥

भूमिका

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगा-
द्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः,
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तुः ॥

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह सुस्पष्टतया विदित हो जाता है कि परिवर्तनशील समय अपनी आवश्यकता पूर्ति के साधन स्वयं जुटा लिया करता है। इसी नियम के अनुसार जब हम अतीत के उन पलों पर दृष्टिपात करते हैं जबकि मनुष्य आधुनिक दृष्टि से साधन विहीन था, तब भी समय के अनुकूल सारे साधन उसके पास आजुटे थे और उसने उन्हीं अल्प अथच आधुनिक मानव के विचारानुसार अविकसित साधनों का सहारा लेकर स्वास्थ्य के क्षेत्र में वह क्रान्ति प्रस्तुत की थी जिसकी चकाचौंध से उसकी दृष्टि आज भी चमत्कृत है।

इतिहास से स्पष्ट है कि यूनानी आदि चिकित्सा पद्धतियां सर्वथा आयुर्वेद के आधार पर ही विकसित हुई हैं। भारतीय मनीषा ने अनुभव की कसौटी पर अनुभूत विषयों को कसकर उन्हें आधारभूत ग्रन्थ के रूप में हमारे लिए इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वह परम्परागत ही नहीं शाश्वत मूल्य का भाजन बन गया है।

आयुर्वेद आयु और तत्सम्बन्धी सभी विषयों का विवेचन कर मानव के स्वास्थ्य का विधान करता है। आयुर्वेद के अनुसार शरीर में रोग की प्रतीति न होना ही स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। अनेकों व्यक्तियों के शरीर में रोग न होने पर भी बल, विचार, शक्ति और कर्तृत्व शक्ति में न्यूनता, विषय सेवन की अत्यन्त वासना तथा लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, क्रूरता, शठता आदि दुष्ट संस्कारों की प्रबलता दृष्टि गोचर होती है, जिससे उनके बुद्धि, मन और इन्द्रिय ग्राम में प्रसन्नता

नहीं रह पाती। अतः आचार्यों ने उक्त विकार अथवा प्रभाव ग्रस्त व्यक्तियों को अस्वस्थ ही माना है। जब तक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्वास्थ्य की उपलब्धि नहीं होती तब तक दुःखों का आत्यन्तिक अभाव एवं वास्तविक सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। आचार्यों के अनुसार 'स्वस्थ' की सर्वांगीण परिभाषा इस प्रकार है—

> सम दोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
> प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः 'स्वस्थ' इत्यभिधीयते॥
>
> सु० सं० सू० स्था १५-४१

अर्थात् जिस व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त, कफ तीनों दोष अग्नि, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र सप्त धातुए और धातुओं की मलक्रिया, ये सब सम हैं तथा जिसकी आत्मा, मन और इन्द्रियां प्रसंन्न हैं उसे ही सर्वथा 'स्वस्थ' कहा जा सकता है।

यद्यपि इस पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त करने के अधिकारी संसार में बहुत कम होते हैं, तथापि लक्ष्य सर्वदा पूर्ण ही रखना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति शारीरिक आरोग्य पर ही निर्भर करती है। अयुर्वेद का प्रादुर्भाव इसी आरोग्य की उपलब्धि के लिए हुआ है।

आयुर्वेद के दो विभाग हैं—स्वास्थ्य संरक्षण और रोग चिकित्सा। आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वास्थ्य का संरक्षण एवं गौण प्रयोजन चिकित्सा है। इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारतीय मनीषा चिरन्तन काल से कार्यरत है।

आज भी अनेकानेक विज्ञ पुरुष उक्त आर्ष परम्परा को निज-निज मातृ भाषा के माध्यम से प्रवहमाण रखे हुए हैं। यद्यपि ऐसे महानुभावों का यह प्रयत्न अभिनन्दनीय होना चाहिए। परन्तु देखा यह जाता है कि कतिपय पण्डितमन्य ऐसे सत् प्रयासों को देख कर नाक, भौं चढ़ाया करते हैं। वे सरल देशीय भाषाओं में प्रस्तुत कृतियों की ओर दृष्टिपात करना परम जघन्य कार्य समझते हैं। इस प्रकार
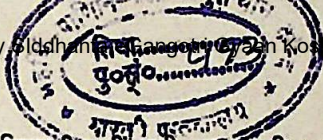
की उपेक्षा कथमयि बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। सड़े गले चीथड़ों में लिपटा हुआ भी 'हीरा' हीरा ही रहता है। निज दूषित वेष्ठन के कारण कांच नहीं बन जाता।

आज युग प्रतिक्षणरूप बदल रहा है। प्रति दिन नवीन चमत्कारिक आविष्कारों की सृष्टि हो रही है। यदि किसी एक विशेष भाषा को ही उक्त की जानकारी का आधार बना कर रहा जाए तो विज्ञान प्रगति केन्द्रित हो जड़ीं भूत बन जाए, अतः उदार दृष्टिकोण रख कर हमें आयुर्वेद के विकास दिशा में जाकरूक बनना चाहिए।

यद्यपि महाभारत के निम्न कथनानुसार—

यदि हास्ति तदन्यत्र, यन्ने हास्ति न तत् क्वचित ।।

आयुर्वेद सभी दृष्टियों से परिपूर्ण है तथापि विज्ञान की धारा सतत् प्रवाहित होती रहे। इस दृष्टि से सुधीजन प्रयत्नशील रहते हैं।

जनमेजय के नाग यज्ञ की पावन भूमि 'सर्पदमन' (सफीदों हरियाणा) निवासी आयुर्वेद मार्तण्ड पं० रामस्वरूप जी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य ने आयुर्वेदीय ज्ञान यज्ञ के लिए 'शारीरिक तत्व मीमांसा' आहुति रूप में प्रस्तुत की है। इस पुस्तक में इन्होंने अभिनव परिमार्जित ढंग से नवग्रह, नव रत्न, नव धातु तथा नव अंक का शारीरिक दृष्टि से विवेचन किया है और बताया है कि रोग, रोग परिज्ञान, रोग निवारण की दृष्टि से इन सब का क्या और कितना महत्त्व है एवं इनका परिज्ञानकर किस प्रकार विज्ञजन रोग निदान कर, चिकित्सा की व्यवस्था कर सकते हैं।

इस पुस्तक के दूसरे प्रकरण में 'दूत निदान' की विधि बताई गई है। इसके अनुसार रोगी का समाचार लेकर आने वाले व्यक्ति के हाव-भाव चेष्टादिक से किस प्रकार वैद्य रोगी की दशा का ठीक-ठीक निदान कर दूर रह कर भी चिकित्सा व्यवस्था कर सकता है।

तीसरे प्रकरण में लेखक ने मन, मस्तिस्क और हृदय का विशद विवेचन कर इनके कार्य-व्यापार और प्रभाव का तथा इनकी विकृति से होने वाले दोषों का दिग्दर्शन कराया है। इसके साथ ही लेखक ने गुरु परम्परा से प्रतिपादित नाड़ी विज्ञान का भी समीचीन परिचय इस रूप में देने का प्रयास किया है जिससे यह जान पाने में सुविधा हो जाती है कि किस प्रकार अतीत काल में वैद्य नाड़ी परीक्षण द्वारा रोग की जड़ तक पहुँच जाते थे। इसके साथ ही आयुर्वेद के आधार भूत प्रतिपाद्य त्रिदोष का समुचित विवेचन प्रस्तुत कर लेखक ने आधुनिक व्यस्त जीवन में निजवृत्ति की उपादेयता पर पाठकों के ध्यान को आकर्षित करने का प्रयास किया है। कैंसर जैसे महाभयंकर रोग का पूर्ण विवेचन कर वैद्य समाज के लिए एक विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है।

पुस्तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने परिश्रम पूर्वक एक अभिनव विषय से आयुर्वेद प्रेमियों को परिचित कराने का प्रयास इस दृष्टि से किया है।

सुधीजन लेखक की इस अभिनव उपादेय कृति का समुचित आदर करेंगे इस विश्वास के साथ मैं वैद्यराज श्री पं० रामस्वरूप शास्त्री के इस स्तुत्य प्रयास का अभिनन्दन करता हूं तथा जगन्नियन्ता से प्रार्थना करता हूँ कि श्री शास्त्री जी दीर्घ जीवन प्राप्त कर इसी प्रकार आयुर्वेद-कोष को अपनी अमूल्य कृतियों से भरते हुए आर्त मानवता की सेवा करते रहें।

सागरः सागरस्येव प्रथतां यातु भूतले।
यशो गायन्तु विद्वांसः श्री रामस्वरूपशास्त्रिणः॥

कविराज डा. वेदप्रकाश शास्त्री

आचार्य
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद दक्षिण।

विषय सूची

❀ समर्पणम् ❀

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपंजरान्ते ।
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः ।
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ।।

रत्नाकरस्तव गृहं,
गृहिणी च पद्मा ।
किं देयमस्तु भवते,
जगदीश्वराय ।
आभीरवामनयनाहृत-
मानसाय ।
दत्तं मनो यदुपते,
कृपया गृहाण ।

हे प्रभो !, रत्नाकर, आपका घर है लक्ष्मी आपकी गृहिणी है। आप स्वयं जगदीश्वर हैं। मैं आपको क्या दूं, हां याद आया, गोपिकाओं ने आपके मन को चुरा लिया है अतः आपके पास मन नहीं है। इसलिए मैं अपने मन को आपको देता हूं कृपया इसे ग्रहण कीजिए ।

—श्री रामस्वरूप शास्त्री

समर्पणम्

करारविन्देन पदारविन्दम् ।
मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ॥
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानम् ।
बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥
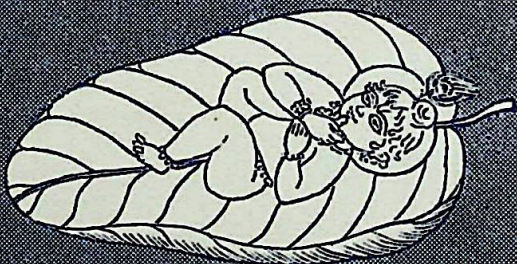
त्वदीयं वस्तु गोविन्द
तुभ्यमेव समर्पये

आयुर्वेदमार्तण्ड पं० रामस्वरूप शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

श्री गुरोश्चरणाम्भोजे नित्यं दिशतु मे मनः।

आयुर्वेद मार्तण्ड पं. रामस्वरुप शास्त्री. आयुर्वेदाचार्य.

जन्म. विक्रम सं. १९७३, वसंत पंचमी.

❀ शरीर तत्त्व मीमांसा ❀

वृन्दारकैर्वन्दित पाद पीठो,
गौर्येकदन्ताग्निभवैरुपेतः ।
सदाशुतोषः करुणा पयोधिः,
शिवं प्रतन्याद्गिरिजापतिर्नः ।

शरीर क्या है ?

शरीर के विषय में प्रधानतया दो मान्यताएं विद्यमान हैं ।

१. दोष धातु मल मूलं हि शरीरम् ।

दोष—वात, पित्त, कफ, धातु, रस, रक्त, मांस, मेद मज्जा, अस्थि और शुक्र ।

मल—परिहेय विण्मूत्रादि का आधार भूत शरीर है ।

२. यौगिक परिभाषा के आधार पर आत्मा, मन, बुद्धि, चित्त अहंकार पंच भूतात्मक समष्टि का नाम शरीर है ।

तत्त्व प्रधानता के कारण जिसमें जो तत्त्व प्रधान होगा, प्राधान्य उसी का रहेगा, यह नियम है ।

यहां हम पार्थिव शरीर का विचार कर रहे हैं । अतः अन्य तत्त्वों के समावेश होने पर भी पृथ्वी तत्त्व प्रधान होने से यह शरीर पार्थिव है । पृथ्वी में आकर्षण है । इस शरीर का कार्य-जाल पृथ्वी तक ही सीमित है । यदि आकाश गमनादि करे तब भी पृथ्वी काही प्राधान्य रहेगा । कारण सभी साधन पार्थिव हैं ।

मानव शरीर की उत्पत्ति के विषय में विचार करने पर हमारा ध्यान सृष्टी के उद्गम की ओर वरवश आकर्षित होता है।

सृष्टी का उद्गम बिन्दु से है, या यों कहें कि यह बिन्दु ही संसार का उद्गम स्थान है। इस ० बिन्दु के दो भाग (।) कर देने पर अर्धं नारी नटेश्वर की याद आती है। अर्थात् पुराणों के आधार पर वह चिन्मय प्रभु अपने एक बिन्दु से द्विधा विभक्त हुआ। आधा अङ्ग नारी आधा पुरुष रूप में।

इसी को ब्रह्माण्ड कहकर भी सम्बोधित किया गया है। जैसे—

दो कड़ाहों के शिरों को ज्यों मिलाइये।
ब्रह्माण्ड गोल चित्रपट ऐसा बनाइये॥
दोनों के बीचोंबीच इक सम सूत्र खींच दें।
लड्डू सा ब्रह्म पिण्ड को पुरोय बीच लें॥

इसी को हम प्रकृति पुरुष के रूप में देखते हैं। यही प्रकृति पुरुष ० शून्य से १ तथा २ की संख्या का बोध कराते हैं। इन्हीं दो और एक के संयोग से ३ संख्या बनी, यही ३ संख्या वात, पित्त, कफ की द्योतक होने से शरीर का धारण, पोषण एवं विनाश का कारण बनी। पुराणों के आधार पर इसी ३ संख्या को सत, रज, तम, के रूप में देखा तथा इनके अधिष्ठातृ देव विष्णु, ब्रह्मा, महेश इस त्रिमूर्ति को अङ्गीकार किया। इसका स्वरूप इस प्रकार बना ० पुरुष ◡ प्रकृति इन दोनों के संयोग से ३ वात, पित्त, कफ। विष्णु, ब्रह्मा, महेश त्रिमूर्ति इनसे ॐ संसार की उत्पत्ति मानी गई, यही संसार अपना चतुर्थं रूप धारण कर ॐ इस रूप में कार्यं संलग्न हो, संसार का बीजमंत्र

बना। यही बीजमंत्र गीता के आधार पर भगवान् के सानिध्य में पहुँचाता है। अर्थात्—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमांगतिम्॥

ॐ इस एक ब्रह्म अक्षर का जप करते हुए एवं मेरा स्मरण करते हुए जो इस देह का त्याग करता है, वह परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

यही ॐकार व्यावहारिक अवस्था में नाना रूप से व्यवहृत होता है। पर पारमार्थिक अवस्था में केवल प्रकृति पुरुषात्मक चिन्मय प्रभु-स्वरूप हैं। यही चिन्मय पुरुष अपनी माया (प्रकृति) को आत्मसात् कर केवल चिन्मय रूप ० विद्यमान रहता है। यह है संसार का कार्य जाल। जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण से नाना प्रकार के आभूषण तैयार कर उनके अनेक नाम रख व्यवहार में लेता है। फिर उन्हीं को अग्नि का संयोग दे गला कर पुनः स्वर्ण रूप में परिणत कर देता है, अर्थात् व्यवहार में कुण्डल आदि नामों से व्यवहार किया, परं पारमार्थिक अवस्था में वह स्वर्ण ही है। इसी प्रकार व्यवहार में हम नाना नाते बनाये रखते हैं। परं वास्तव में (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) के आधार पर सब ब्रह्ममय ही है।

अङ्क परिभाषा

अब अङ्कों की परिभाषा की ओर ध्यान दीजिये। इन अंकों द्वारा ही संसार का व्यवहार व्यवस्थित रहता है।

१. अङ्क विशुद्ध ब्रह्म······(वात)
२. प्रकृति··················(पित्त)
३. वात, पित्त, कफ·········(कफ)
४. रक्त·······················(संसार)

५. पंचमहाभूत............
६. षट्रस (मधुर, अम्ल, लवण, कुटु, तिक्त, कषाय)
७. सप्तरश्मि ज्योति (आग्नेय तत्त्व)
८. अष्टवसु
९. पूर्णाङ्क आत्मा, नवरत्नात्मक, नवग्रहात्मक।
०. शून्य—वात, ब्रह्मात्मिकाशक्तिः।

संसार में नौ से अधिक कोई अङ्क नहीं। सम्पूर्ण अंकगणित तथा यह संसार ९ अंकों में ही विभक्त है। अतः इस शरीर को भी नव अङ्कों में ही विभक्त किया गया है। ० शून्य चिन्मय होने से सबके साथ समावेश पाता है। इसी शून्य के आधार पर अनन्त संख्या का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे—९ अङ्क के बाद केवल शून्य रहता है। इसी शून्य के आधार पर फिर उन्हीं अङ्कों की पुनरावृत्ति करने लगते हैं। पुनरावृत्ति में १ का स्थान पहले होने से १ ही आया और उसके सामने ० रख दिया तो १० संख्या बन गई, बस इसी क्रम से ११-१२-१३ आदि संख्याएं बनीं फिर ९ समाप्त होते ही वही क्रम आया और २ के सामने ० रख दिया तो २० संख्या बन गई। इसी आधार पर २१-२२ आदि संख्याएं बनीं।

इसी क्रम से अङ्कगणित का प्रादुर्भाव हुआ। जो अनन्त संख्या का द्योतक बना। वास्तव में अङ्क आपके ९ ही रहे इसी प्रकार चिन्मय पुरुष एक होते हुए भी, वेद वाक्य के आधार पर "एकोऽहं बहुस्याम" मैं एक होते हुए भी अनेक हो जाऊं, इस संकल्प से अनेकधा विभक्त हुआ।

इसी ९ संख्या में इस मानव शरीर को भी बांटा गया है। इसकी साम्यावस्था, स्वस्थावस्था कहलाती है और विषमावस्था, रुग्णावस्था। जैसे—

प्रश्न—हल करते समय यदि ४ के स्थान पर ५ लिख दिया जाय तो प्रश्न अशुद्ध माना जायगा। अर्थात् ४ का स्थान ५ नहीं हो सकता, इसी विकृति को रुग्णावस्था कहा जाता है।

इस शरीर को ब्रह्माण्ड के नाम से व्यवहृत किया है। अर्थात्—"यद्यद् ब्रह्माण्डे तत्तत् पिण्डे" इस वेद वाक्य के आधार पर जो कुछ भी स्थूल रूप में संसार में देखते हैं। वही सूक्ष्म रूप में इस शरीर में विद्यमान है। लोक में सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु नवग्रह को एवं माणिक्य, मोती, प्रवाल, पन्ना, पुखराज, हीरा, नीलम, गोभेद, वैडूर्य आदि रत्नों को और स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह, यशद, रांगा, कलई, कांसी, पीतल आदि धातुओं को देखा। यही सब अपने-अपने स्थान पर इस पिण्ड (शरीर) में विद्यमान हैं। यथा—

त्रैलोक्ये यानि भूतानि, तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्टय सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥ शिवसंहिता

तीनों लोकों में जितने प्रकार के जीव हैं। वे सभी शरीर में विद्यमान हैं, ये सब पदार्थ मेरु को वेष्टन कर अपना-अपना विषय सम्पादन करते हैं।

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः, सप्तद्वीप समन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः, क्षेत्राणि क्षेत्र पालकाः ॥
ऋषयो मुनयः सर्वे, नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्य तीर्थानि पीठानि, वर्तन्ते पीठ देवता ॥
सृष्टि संहार कर्तारौ, भ्रमन्तौ शिशि भास्करौ।
नाभो वायुश्च वह्निश्च, जलं पृथ्वी तथैवच ॥

शिवसंहिता

इस शरीर में सातों द्वीपों के साथ सुमेरु पर्वत सब नदी नद

समुद्र क्षेत्र, क्षेत्रपाल विद्यमान हैं। सब ऋषि-मुनि, ग्रह-नक्षत्र, पुण्य-तीर्थ, पुण्यपीठ और पीठ देवता गण विद्यमान हैं। सृष्टि का पालन एवं विनाश करने वाले चन्द्र और सूर्य इसी में भ्रमण करते हैं। एवं आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, पञ्चमहाभूत इसी में विद्यमान हैं। जो स्वस्थावस्था में पोषक एवं रुजावस्था में विकारी होते हैं। इन सब में भी त्रिदोष ही कार्य करता है। कारण पहले बतलाया जा चुका है कि यह शरीर त्रिगुणी माया से तथा प्रकृति पुरुषात्मक होने से त्रिधा विभक्त हैं। अतः इसका आधार स्तम्भ त्रिदोष हैं। त्रिदोष के विवेचन पूर्व पूर्णांक ९ के द्योतक नवग्रह, नवरत्न, नवधातु आदि का विवेचन किया जाता है।

❀ सूर्य मंडल ❀

रवि

ॐ विश्वरूपं हरिणं जात वेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्, सहस्र-रश्मि शतधा वर्तमानः ।।

ऋग्वेद २-११५

विश्व स्वरूप सूर्य, ज्ञान, गम्य, ज्ञाता तीनों स्वरूपों में विद्यमान अपनी ज्योति से तपायमान सहस्र किरणों द्वारा संसार को लोकित कर रहा है। अन्यच्च—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

प्रत्यक्ष देव सूर्य भगवान सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत का आत्मा है। सूर्य संसार का आतम स्वरूप है। अर्थात् सूर्य ही संसार का आत्मा है। प्रश्नोपनिषद् में इसका उद्धरण देते हुए इस प्रकार उल्लेख किया है। प्राणः प्रजानामुदयत्येषः सूर्यः ।

प्रश्नोपनिषद् व-८-३

सब प्राणियों का प्राण होकर यह सूर्य उदय होता है। इस संसार में जीवन, चेष्टा, गति, शक्ति का केन्द्र सूर्य ही है। यथा— सूर्य सोमात्मकं जगत् । ऋ० १५-३-३१

यह संसार सूर्य सोमात्मक है। अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा द्वारा ही इसका निर्माण होता है। इसे ब्रह्म पुराण में विशेष रूप से स्पष्ट किया है।

आदित्यमूलमखिलं, त्रैलोक्यं मुनि सत्तमः ।
भवत्यस्माज्जगत्सर्वं, सदेवासुर मानवम् ।। ब्र. पु. अ. ३१

हे मुनि श्रेष्ठ ! यह सम्पूर्ण संसार सूर्य मूलक है। देव राक्षस, मनुष्य इसी द्वारा जीवन धारण करते हैं। इसी प्रकरण में—

सूर्यः साक्षाज्जगन्नाथः, सोमः साक्षादुमा स्वयम् ।

सूर्य साक्षात् जगन्नाथ है, एवं सोम (चन्द्र) साक्षात् उमा है। अर्थात् इन्हीं दोनों द्वारा सृष्टि की स्थिति है। भौतिकवादी विद्वान् भी प्रकाश, ताप, विद्युत, चुम्बक आदि सब बलों का आधार सूर्य को ही मानते हैं। प्राण स्वरूप आदित्य ही हमें देश, काल, अवस्था आदि नाना भेदों से भिन्न-भिन्न प्रकार से जीवन देता है। ब्रह्म पुराण में वर्णित विषय मननीय है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते बृष्टि वृ ष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
सूर्यात् प्रसूयते सर्वं तत्र चैव प्रलीयते।
भावाभावोहि लोकानांमादित्यान्निस्सृतौ पुरा॥

अच्छी प्रकार अग्नि में दी गई आहुति, आदित्य को प्राप्त होती है और आदित्य द्वारा वृष्टि (वर्षा)और वर्षासे अन्न तथा अन्न से प्रजा परिपुष्ट होती है। अतः सूर्य से ही सब उत्पन्न होता है और इसी में समा जाता है। लोको का भाव (होना) अभाव (न होना) आदित्य से ही है।

मासों पर सूर्य प्रभाव—

बारहों मासों में बारह नामों से सूर्य अपना प्रभाव इस शरीर पर तथा ब्रह्माण्ड पर रखता है। यथा—

विष्णु स्तपति चैत्रेतु, वैशाखे चार्यमा तथा।
विवस्वान् ज्येष्ठ मासेतु, आषाढे चांशमान् स्मृतः॥
पर्जन्यः श्रावणे मासे, वरुणः प्रोष्ठ संज्ञके।
इन्द्रः आश्वयुजे मासि, धाता तपति कार्तिके॥
मार्गशीर्षे तथा मित्रः पौषे पूषा दिवाकरः।
माघे भगस्तु विज्ञेयः त्वष्टा तपति फाल्गुने॥

ब्र. पु. अ. ३१ श्लोक १७ से २१।

चैत्र मास में विष्णु वैशाख में अर्यमा ज्येष्ठ में विवस्वान्, आषाढ़ में अंशुमान्, श्रावण में पर्जन्य, भाद्रपद में वरुण, आश्विन में इन्द्र, कार्तिक में धाता, मार्गशीर्ष में मित्र, पौष में पूषा, माघ में भग, फाल्गुन में त्वष्टा इस प्रकार बारह मासो में बारह नामों से सूर्य बारह राशियों का उपभोग करता हुआ दिन, ऋतु, मास का प्रवर्तक बनता है।

रत्न-धातु विवेचन

इसका रत्न, माणिक्य तथा धातु ताम्र हैं। यथा—

ताम्र तारारनागाश्च हेम वंगौ च तीक्ष्णकम्।
कांस्यकं कान्त लौहं च धातवो नव ये स्मृताः॥
सूर्यादीनां ग्रहाणां ते कथिता नामभिः क्रमात्।

ताम्र, रजत, यशद, नाग, स्वर्ण, वंग तीक्ष्णलौह कांसी तथा कान्तलौह ये नव धातु क्रमशः सूर्यादिग्रहों के माने गये हैं।

स्थान=शरीर के उत्तमांग शिर में इसका स्थान है। जिसे ब्रह्मरन्ध्र कहकर पुकारते हैं। दूसरे शब्दों में इसे सौरमण्डल भी कहते हैं। यह सौरमण्डल अपनी किरणों द्वारा सम्पूर्ण शरीर को ज्योति प्रदान कर अपनी उष्मा से शरीर को तपाता है। तथा पित्त को उत्पन्न करता है। यही पित्त धातु रूप अपने-अपने स्थानों पर रहता हुआ, शरीर का पोषक बनता है। अर्थात् सूर्य हमारे शरीर को पित्त प्रदान कर पुष्टि करता है।

पित्त के स्थान—

१. ग्रहणी कला (क्षुद्रान्त्र) पाचक
२. यकृत (जिगर)·········रंजक
३. नेत्र··················आलोचक

४. हृदय..................साधक
५. स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा)...भ्राजक

ये पित्त के मुख्य स्थान हैं। यह ५ प्रकार से १. पाचक ग्रहणी कला में, २. रंजक यकृत में, ३. आलोचक नेत्रों में, ४. साधक हृदय में, ५. भ्राजक त्वचा में रहता है।

पाचक-पित्त—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य आदि पदार्थों का पाचन करता है, इसी कारण इसे पाचक कहा गया है।

रंजक पित्त—यह रंगने का कार्य करता है। इसी से इसकी रंजक संज्ञा दी है, यकृत (जिगर) में रहकर यह रक्त का रंजन करता है।

आलोचक पित्त—यह आंखों में रहता है। इसके द्वारा ही आंखों में ज्योति का प्रकाश होता है।

साधक पित्त—मेधा तथा धारणा शक्ति को देता है।

भ्राजक पित्त—यह त्वचा में रहता है और कान्ति प्रदान करता है, इसी से शरीर पर किया गया चंदनादि का लेप मर्दन किया गया तेल स्नान आदि द्वारा कान्ति आती है। यह प्रकृतिस्थ पित्त ग्रहणी कला में तथा विकृत क्षुद्रान्त्र में रहता है। जब सौर मण्डल में विकृति आती है, तब सूर्य रश्मियां अपनी तेजस्विता से शिर में होने वाले कफ को दूषित करती हैं और यह दूषित कफ प्रतिश्याय का कारण बनता है। अर्थात् नासिका-रन्ध्रों से पीले, हरे, श्वेत रंग का मलभूतकफ निकलने लगता है, तथा मानव को नितान्त कष्ट देता रहता है।

प्राय: प्रतिश्याय (नजला) ३ दिन में स्वयं शान्त हो जाता है। बहुधा देखा जाता है कि जो व्यक्ति अति उच्छृंखल स्वभाव

के होते हैं उन्हें यह निरन्तर बना रहता है और जीर्ण प्रतिश्याय कहलाता है। इसी की विकृति से अनेक रोग पैदा होते हैं। जैसे— **प्रतिश्यायादथः कासः कासात् संजायतेक्षयः।** प्रतिश्याय से खाँसी तथा खांशी से क्षय पैदा होता है। यही प्रतिश्याय जब गले में टपकने लगता है, तब श्वासवाहिनी का अवरोध कर श्वास रोग का कारण बनता है। यह रोग बड़ा दुष्ट तथा भयंकर होता है। इसमें व्यक्ति न मरता है न जीता है, निरन्तर रोग जाल में फंसा तड़पता रहता है। यह तड़पन देखी नहीं जाती। मनुष्य की बेचैनी इतनी बढ़ जाती है कि वह न लेट सकता है, न बैठ सकता है श्वास नीचे का नीचे, ऊपर का ऊपर रह कबूतर के समान आवाज आती है। कफ सूख जाता है, निकलने नहीं पाता, कुछ प्रयत्न करने पर जब कुछ कफ निकलता है तब कुछ शान्ति अनुभव होती है। यही विकृत प्रतिश्याय जब रक्तवहा, वातवहा, नाड़ियों पर अपना प्रभाव डालता है, तब अर्धांग वात, पक्षाघात का कारण बनता है। अर्थात् मानव पंगु हो बैठ जाता है। किसी भी कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। यह है हमारे शरीर पर सूर्य मण्डल का प्रभाव स्वस्थावस्था में पोषक तथा विकृतावस्था में नाना रोगों द्वारा शरीर को पंगु बना देता है। यदि हम इन विकारों के होने से पूर्व ही सावधानी से काम लें तो ये उत्पन्न ही न हों।

(सूर्य) सौर मण्डल स्थित किरणें फैल कर चलती हैं, इसी से सम्पूर्ण संसार को आलोकित करती हैं। तथा इस शरीर पर भी ये किरणें अपना पूर्ण प्रभाव रखती हैं। एवं इसका पोषण करती है। परं दूषित कफ तथा वायु के कारण शिरोवेदना का कारण बनती हैं। दुष्ट प्रतिश्याय से विकृत कफ वायु का आश्रय ले अर्धावभेदक, शंखक आदि शिरो वेदनाओं को उत्पन्न कर

अति पीड़ित करता है। अनेकों को इस तीव्र पीड़ा के कारण आंखोंकी ज्योति से हाथ धोना पड़ता है। इन्हें लौकिक भाषा में (शूल) ऊल कहते हैं। शरीर में जैसे कोई भाले चुभो रहा हो, ऐसी पीड़ा होती है। और सूर्य मण्डल की गति रूप आलोचक पित्त की कमी के कारण नेत्र ज्योति समाप्त हो जाती है। इसकी चिकित्सा में अज्ञ लोग न जाने कितने टोटके करते रहते हैं। जिससे लाभ के बदले हानि ही होती है।

अतः इसकी चिकित्सा में योग के नेति आदि कर्म करने ही उपयुक्त हैं। जलनेति, सूत्रनेति, घृतनेति आदि से इसकी सद्य चिकित्सा होती है एवं मन की स्थिरता में भी सहायता मिलती है। अर्थात् योग परायण व्यक्ति यदि अपने मन का संयम सूर्य में करता है तो सम्पूर्ण संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिसका उसे ज्ञान न हो, महर्षियों ने अपने इसी दिव्यज्ञान द्वारा भुवन को हस्तामलकवत् देखा।

"भुवन ज्ञानं सूर्यसंयमात्।" पतंजलि:

यौगिक चिकित्सा में योगी लोगों ने शीर्षासन, जलनेति आदि क्रियाओं का उल्लेख किया है। इन क्रियाओं से जीवन में सद्य लाभ होता है।

मेरे सद्गुरु देव १००८ स्वामी चन्द्रमोहन जी महाराज (संवाई) के पास अनेकों रोगी इस प्रकार के आते हैं, तथा इन यौगिक क्रियाओं द्वारा पूर्ण लाभ प्राप्त करते हैं। (क्रियाओं का विवरण क्रिया प्रकरण में देखें)।

ताम्र, स्वर्ण, माणिक्यादि द्वारा घटित रस, उपरस रोगों को दूर करने में परमोपयोगी हैं। अस्तु—

जब भी सौर मण्डल में विकृति आती है, तभी प्रतिश्याय

शिरोवेदना, नेत्रविकार, खालित्य आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। इन रोगों से बचने के उपाय आयुर्वेद में बड़े मार्मिक ढंग से दिये हैं। परं मानव अपनी जिह्वा लौलुपता के कारण पैसे देकर रोग खरीदता है। कारण स्पष्ट है—

मिथ्याऽहार विहारतः प्रकुपिताः दोषाः रसास्यानुगाः।
कोष्ठाग्नि ज्वरदा निरस्य वहिरित्यामाशये संस्थिताः॥
तापोङ्ग ग्रहणं क्लमोहि युगपत् संदिश्यते स ज्वरो।
वैरस्यं नयन प्लवः श्रमरुजः पूर्वं हितस्योद्गमे॥

वैद्यविनोदे

मिथ्या आहार विहारादि के कारण दोष रस के अनुगामी हो, आमाशय स्थित कोष्ठाग्नि को विकृत कर ज्वर (रोग) का कारण बनते हैं। (यहां ज्वर शब्द रोग का वाची है) ताप अङ्गों का टूटना, थकावट, मुंह का स्वाद विकृत होना नेत्रों में लाली, चक्कर आदि आने लगते हैं। अतः कल्याण के चाहने वालें इस ओर ध्यान दें रोगमुक्त हो सकते हैं। उपासना के आधार पर सूर्य उपासना परम उपादेय है, कुष्ठ आदि व्याधियां एवं कृच्छ्र साध्य रोग भी नष्ट हो जाते हैं। अतः इस शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में रहने वाले सूर्य की ओर ध्यान दें स्वस्थ जीवन प्राप्त करें। इसके लिए गीता के इस परम उपादेय उपदेश को स्मरण रखें

युक्ताऽहारविहारस्प युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

युक्त आहार विहार एवं युक्त कर्मों में संलग्न, समय पर सोना समय पर जागना इस प्रकार जो नियमानुकूल कर्म में लगा रहता है उसका यह योग दुःखों को दूर करने वाला है, अर्थात् सुख प्राप्ति का साधन है।

★ चन्द्र मंडल ★

हमारे शरीर में सूर्य के बाद दूसरा स्थान चन्द्र मण्डल का है, इसके स्थान के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद है। कोई सूर्य मण्डल से नीचे सुषुम्ना काण्ड पर अर्थात् चोटी से नीचे गुद्दी से तीन अंगुल ऊपर इसका स्थान मानते है। दूसरे मत—"हृदयं वैचेतनास्थानम्" वेद. हृदय चेतना का स्थान है। "चन्द्रमा वैमनसो अजायत" के आधार पर मन का स्थान हृदय होने से चन्द्र का स्थान भी हृदय ही मानते हैं। अर्थात्—विद्वत् सम्मत इसके दो स्थान हुए, इसका रत्न मोती एवं धातु रजत (चांदी) है। शरीर में इसका प्रधान कार्य शीतता प्रदान करना, प्रसादन कफ का निर्माण तथा वितरण है।

शरीर को अग्नि सोमीय माना है। अतः सूर्य पित्त (उष्मा) तथा चन्द्र कफ शीतता प्रदान कर शरीर की पुष्टि का कारण बनते हैं। सूर्य के समान ही चन्द्र की किरणें भी विकसित (फैल-कर) ही चलती है।

चन्द्र स्वप्रकाशित न होने के कारण सूर्य की सुषुम्ना नामक किरण द्वारा प्रकाश प्राप्त करता है। सुषुम्ना मानव शरीर में मूलाधार चक्र से प्रारम्भ हो सौर मण्डल की ओर जाती है। मार्ग में चन्द्र मण्डल को आलोकित करती है।

योगी जन मूलाधार पर ध्यान लगा जब ध्यानस्थ होते हैं, तब यह सुषुम्ना ही मार्ग दर्शक होती है। वहां यह सूत्र चरितार्थ होता है।

"योगस्य योग एव उपाध्यायः।"

योग का योग ही गुरु है। अर्थात् जब योगी सद्गुरु कृपा-लाभकर ध्यानस्थ होता है, तब ध्यानावस्था में ही उसे सुषुम्ना द्वारा उपदेश मिलता रहता है।

ऐसा आभास सुषुम्ना काण्ड से स्वयं आलोकित होता है और योगी गुरु कृपा से नील, हरित, पीत आदि वर्णनातीत दृश्यों का अनुभव कर ध्यान मग्न हो जाता है। जो प्राणी "रमणी सर्वस्व" हो जाते हैं, उन्हें अधोरेता की संज्ञा दी है। इसके विपरीत जो संसार त्यागी अपने ओज को सुषुम्ना द्वारा सौर मण्डल में पहुँचाते हैं उनकी ऊर्ध्वरेता संज्ञा दी है। इनकी गणना न्यून है, ये सिद्ध महात्मा संसार-त्यागी विरले ही होते हैं। जैसे— सिंहन के लंहड़े नहीं, साधु न चलैं जमात।

इन्हें कोई रोग सताएं ऐसा असम्भव है। रोग नामक वस्तु कही बाहर से नहीं आती, इसका प्रादुर्भाव शरीर से ही होता है। यह उन्हीं को सताता है जो अपनी शक्ति का ह्रास व्यर्थ में करते रहते हैं।

चन्द्र मण्डल कफ का प्रसादन करने के कारण शीतता प्रदान कर मस्तिष्क को ठंडा रखता है। विचारशील व्यक्तियों का मस्तिष्क सर्वदा ठंडा रहता है। उनकी संज्ञा स्थितप्रज्ञता की होती है। शरीर में चन्द्र मण्डल की ही यह देन है। शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा के प्रकाश से यह स्पष्ट अनुभव हो जाता है। इसकी आह्लाद कारिणी, चांदनी मस्तिष्क को शांति प्रदान करती है।

जब कभी चन्द्र मण्डल में विकृति आती है, तब यह अपनी शीतता का परित्याग करता है। ऐसा होने पर मनुष्य (प्राणी) पागल, उन्मादी हो जाता है। क्रोधादि के लक्षण प्रकट होते हैं।

कुपित कफ पित्त का आश्रय ले उन्माद, अपस्मार आदि का कारण बनता है। बार-बार दौरे आने लगते हैं। जीवन सारहीन हो जाता है। समय-असमय रोगी बेहोश (चेतनाहीन) हो छटपटाने लगता है। यह रोग आबाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी में देखा जाता है। स्त्रियों में योषापस्मार की गति दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। यह मानव समाज के कुकृत्यों का फल है। मानव बचपन से ही अपरिपक्वावस्था में ही अपने विनाश के साधन की ओर अग्रसर हो जाता है। बाद में पछताने के सिवाय कोई चारा नहीं रह जाता। तदर्थं योषापस्मारादि व्याधियां शरीर को अपना अङ्ग बना लेती हैं और जीवन भार प्रतीत होने लगता है। यह स्थिति सभी समाज में घर किये हुए है ध्यान दीजिए। महर्षियों के वचनों की ओर—

मरणं विन्दु पातेन, जीवनं विन्दु धारणात्।
तस्मादति प्रयत्नेन, कुर्याद् विन्दु धारणम्॥

बिन्दु धारण से जीवन तथा पात से मृत्यु है। अतः अति प्रयत्नपूर्वक बिन्दु का धारण करना ही श्रेयष्कर है।

चन्द्र मण्डल की विकृति को दूर करने के लिए मुक्ता (मोती) रजत (चांदी) मिश्रित रस उपरसों का प्रयोग हितावह है।

कफ के सभी स्थानों पर विकृत कफ तथा पित्त का प्रभाव पड़ता है। अर्थात्—कफ विकृति होने पर केवल चन्द्र मण्डल में ही नहीं अपितु सभी कफ प्रधान अवयवों पर इसका प्रभाव पड़ेगा

कफ के स्थान—

१. क्लेदन कफ आमाशय में, २. अवलम्बन हृदय में, ३. रसन कण्ठ में, ४. स्नेहन सिर में, ५. श्लेष्मन सन्धि स्थानों में

शरीर तत्त्व मीमांसा
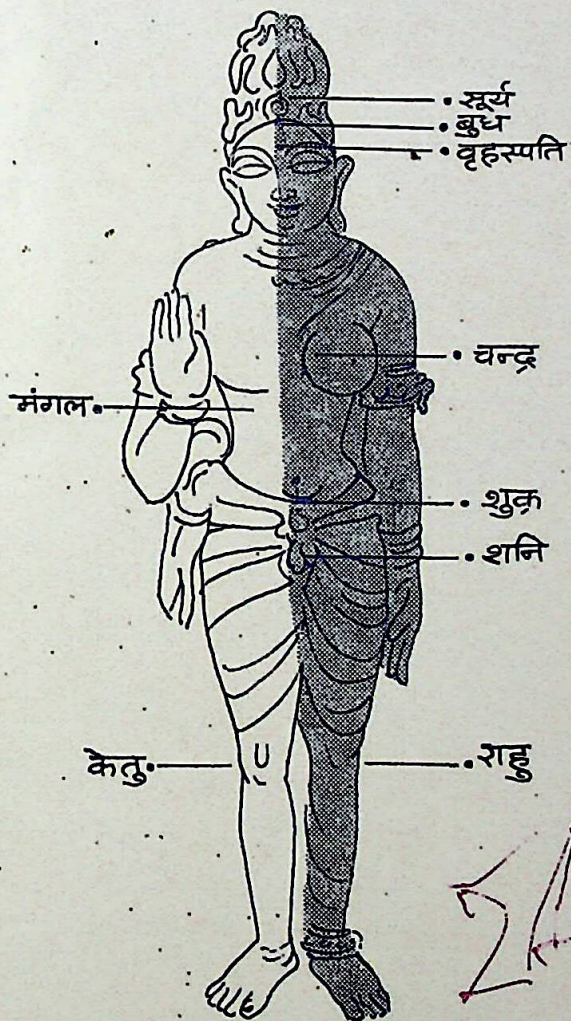
अर्धनारी नटेश्वर

रहता है। इस प्रकार ५ प्रकार का कफ अपने-अपने स्थानों पर शरीर की पुष्टि का कारण बनता है। मस्तक, कण्ठ, उरप्रदेश क्लोम जिह्वा, अस्थि सन्धि आमाशय, घ्राणेन्द्रिय ये सब कफ प्रधान स्थान हैं।

१. **क्लेदन कफ**—अन्न को गीला कर पाचन में सहायक होता है, यह आमाशय में रहता है।

२. **अवलम्बन**—इसका स्थान हृदय है। अवलम्बन आदि कार्य कर हृदय का पोषक बनता है।

३. **रसन कफ**—यह कण्ठ प्रदेश में रहता है। रस को ग्रहण कर कड़वे, चरपरे, मधुर आदि रसों का ज्ञान कराता है।

४. **स्नेहन कफ**—यह मस्तक में रहता है एवं इन्द्रियों को तृप्त करता है, इसी कारण इन्द्रियां अपने-अपने कर्म में कार्यशील होती हैं।

५. **संश्लेषण कफ**—यह संधि स्थानों में रहता है तथा इन्हें जोड़ता है।

चन्द्र मण्डल की विकृति से इन सभी स्थानों पर प्रभाव पड़ना आवश्यक है।

❀ मंगल मंडल ❀

शरीर में तृतीय स्थान मंगल का है, जो शरीर में यकृत (लीवर) पर अपना प्रभाव रखता है। रक्त निर्माण इसका विशेष कार्य है। ज्योतिः शास्त्र के आधार पर इसे पृथ्वी पुत्र माना है। पृथ्वी रसवती है रस से रक्त का प्रादुर्भाव होता है, रक्त का स्वामी मंगल है। अर्थात् शरीर में जितने भी रक्तमय कार्य है। मंगल द्वारा ही सम्पादित होते हैं। इसका मुख्य स्थान यकृत् है। जब भी शरीर में रक्त दोष होता है, ज्योतिषी लोग मंगल के दान में लाल वस्तुओं का दान बतलाया करते हैं। कारण रक्त साम्य होने से इसके वर्ण के अनुकूल ही लाल वस्तुओं का दान किया जाता है।
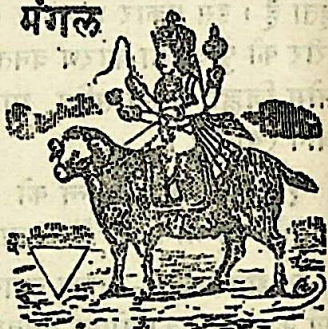
इसका रत्न प्रवाल (मूंगा) तथा धातु यशद है। यकृत विकार में प्रवाल यशद लौह मंडूर आदि का प्रयोग किया जाता है। लौह यशद धातु प्रधान वस्तु बथुआ, पालक, टमाटर आदि पदार्थ भोजन में दिये जाते हैं। जब शरीर में मंगल का प्रकोप होता है, तब शरीर रक्त दोष से युक्त फोड़े, फुन्सी, चर्मदल, कुष्ठ, अर्वुद आदि व्याधियों से ग्रसित हो जाता है। चिकित्सा वैपरीत्यता से मण्डल श्वित्र गलितादि कुष्ठ हो जाते हैं। इन रोगों का प्रादुर्भाव वहीं होता है, जहां दूषित पित्त रक्त का आश्रय ले रक्त को दूषित कर देता है। क्वचित् कफ दोष से भी ऐसा देखा गया है। इसे सन्निपातज रोग मानते हैं। जहां एक दोष की प्रधानता हो वहां उसी का व्यवहार होता है, दो दोषों

के विकार में द्वंदज मानेंगे त्रिदोष भूयिष्ठ रोग को सन्निपातज की संज्ञा दी है। कफ रक्त के साथ दूषित होने पर पूयादि उत्पन्न करता है। कफ विकृति के बिना (पूय) नहीं होता।

अतः सिद्ध हुआ कि पित्तादि दोष जब दूषित रक्त का आश्रय ले वायु के अनुगामी होते हैं, तब जहां-जहां वायु इनको ले जाता है, वहां-वहां इनके चिह्न प्रकट होने लगते हैं और मानव घृणित दृष्टि से देखा जाने लगता है।

मंगल का प्रकोप नाना कुष्ठादि व्याधियों को जन्म देता है। इसकी चिकित्सा के लिए रक्त शोधक औषधियां चिरायता, कचूर, कुटकी बलि (गंधक) पारद, रस माणिक्य, माणिक्य रस ताल चंद्रोदय, शिला चंद्रोदय, मजीठ आदि उपादेय हैं। गोमूत्र एवं गोमय लेपन इनकी सफल चिकित्सा है। चिकित्सा के समय दोष प्रधानता का विचार परमावश्यक है।

इसका निर्णय वैद्य रोगी की प्रकृति को देख शास्त्रानुसार एवं गुरु परम्परा द्वारा व्यवस्था कर चिकित्सा में प्रवृत्त हो यश उपार्जन करे।

त्रिदोष पर ध्यान दे जो चिकित्सा करता है उसे कभी भी निराशा का मुंह नहीं देखना पड़ता, सर्वदैव उसकी यश, पताका दिगदिगंत में फहराती रहती है। (विशेष चिकित्सा प्रकरण में।)

❀ बुध मंडल ❀

शरीर में चतुर्थ स्थान बुध का है। जो ललाट के ऊपर अंडाकार विद्यमान है। यह हमें बुद्धि प्रदान करता है, इसी से इसे वुद्धि अधिपति की संज्ञा दी है। बुध मण्डल द्वारा प्रदत्त विचार शक्ति द्वारा हम उत्तमोत्तम कार्य कर सकते हैं। जिनकी बुद्धि मन्द होती है उन्हें मूर्ख कहकर पुकारा जाता है। कफ प्रधान होने से इसकी पिच्छिलता शक्ति प्रधान है। इसे चन्द्रमा का पुत्र माना है। इसका रत्न पन्ना (तार्क्ष्य) है, जो हरिताभ लिए पारदर्शक होता है। इसके धारण से बुधग्रह की शान्ति होती है, इसका धातु नाग (रांगा) है।

नागस्तु नाग शत तुल्य बलं ददाति।
व्याधिं विनाशयति जीवनमातनोति॥

नाग सौ हाथियों के समान बल देता है। एवं व्याधि का नाश कर जीवन को सुखकर बनाता है।

रत्न पारखी लोग इन रत्नों की परीक्षा में प्रवीण होते हैं। शुभाकांक्षी लोग अपनी शुभ कामना के लिए इन्हें धारण करते हैं। बुद्धि प्रदाता बुध ललाट के ऊपरि भाग में विद्यमान सम्पूर्ण शरीर को अपनी शक्ति के प्रभाव से चेतना शक्ति प्रदान करता है, और यही चेतना शक्ति संसार के कार्य जात को पूर्ण करने में समर्थ होती है। चेतना विहीन मनुष्य का जीवन सार हीन है।

उदाहरण के लिए—

आप किसी मार्ग पर जा रहे हैं चलते-चलते पैर में कांटा लग गया। तत्काल हाथ वहां पहुँचा और निकाल फेंका। यह क्रिया इतनी शीघ्र हुई कि इसका समय निर्धारण करना कठिन है। अब विचार से देखा जाय तो निष्कर्ष निकलता है कि इधर कांटा लगा उधर हृदयस्थ मन ने बुध मण्डल को प्रेरित किया, तदन्तर्गत आज्ञाचक्र ने हाथ को आज्ञा दी और हाथ ने कर्मेन्द्रिय के नाते अपना काम किया। यह सब कार्य इतना शीघ्र हुआ कि जैसे १०० कमल के पत्तों को एक साथ रख उनमें सुई चुभो दें तो वह सुई उनमें तत्काल छिद्र कर देगी। यदि आपसे कहा जाय कि इसका समय निर्धारण कीजिये तो यह असम्भव है। ठीक सुई एक के बाद दूसरे में गई है, परन्तु समय इतना सूक्ष्म है कि इसका निर्धारण करना असम्भव है। इसी प्रकार कांटा लगने की घटना होने के बाद मन द्वारा बुध मण्डल स्थित आज्ञाचक्र से प्रेरित हाथ ने अपना कर्म किया, परन्तु इसका समय निश्चित करना असम्भव है।

जब कभी मनुष्य अधिक विचार निमग्न होता है, या कोई चिन्ता, आघात आदि पहुँचता है, तब बुध मण्डल में जड़ता उत्पन्न हो जाती है। उसके कारण मनुष्य किंकर्तव्य विमूढ़ की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। क्रिया वहां भी विद्यमान रहती है, किसी के छेड़ने पर या स्वतः ही अपशब्द बोलना, पत्थर फेंकना आदि चेष्टाएं करता है। परन्तु विवेक बुद्धि (मुझे क्या करना है, क्या नहीं) जाती रहती है।

प्रायः यह अवस्था भांग, गांजा आदि मादक वस्तुओं का व्यवहार करने वालों में विशेष पाई जाती है। उन्हें अपनी

चिलम चमेली के अतिरिक्त किसी सत्कर्म का ध्यान ही नह
रहता। उन्हें तो केवल मस्तिष्क की जड़ता को ही प्रश्रय दे
रहता है। अनुदिन दम पर दम चलते रहते हैं। अन्तिम परि
णाम इसका भयावह ही होता है। निद्रा नाश इसका प्रथ
लक्षण है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि बुध मण्डल में शुष्क
आने पर वहां रहने वाला निराम कफ सूख जाता है। एवं उ
की पिच्छिलता शक्ति क्षीण हो जाती है। चिकनाई के क्षीण ह
जाने पर ऐसी स्थिति होती है। पित्त बढ़ जाता है, पित्त वृ
के कारण गर्मी का बढ़ जाना स्वाभाविक है। अर्थात् रोगी
नींद नहीं आती कारण कफ में आर्द्रता का अभाव निद्रा कफ
प्रधान कार्य है। अर्थात् कफ प्रकृति वाले व्यक्ति अधिक सोते
(तमोऽभिभूते तस्मिं स्तु निद्रा भवति देहिनाम्) हृदय में तम
प्रादुर्भाव होने से निद्रा आती है। बाल्यकाल कफ काल मा
है। अतः बच्चे, बड़ों की अपेक्षा अधिक सोते हैं। उन्हें थो
सहलाइये तुरन्त सो जाएंगे। यह कफ काल की प्रधानता है
रोगी की वास्तविक चिकित्सा का सूत्र उसे अच्छी प्रकार नींद
जाना है। नींद आने पर आधा रोग समाप्त समझना चाहिए
कारण निद्रा (विश्राम) भी शरीर के लिए परमावश्यक है
दिन भर के कार्यों से थके व्यक्ति सुखमय निद्रा का अनुभव कर
हैं। उसके विपरीत मोटे-मोटे गद्दों पर पड़े रहने के कार
शरीर को तनिक भी हिलाए-डुलाए बिना दिन भर बकरी
चरते रहते हैं। ये जब रात्रि में शयन कक्ष में जाते हैं तब
करवटें बदलते रहते हैं। उन पर निद्रा देवी की कृपा ही न
होती और वह आलस्यमय जीवन बिताते हैं। नित्य निद्रा ला
वाली गोलियां खाते रहते हैं। फिर भी पूर्ण सफलता न

मिलती। हां गोली खाने के बाद कुछ संज्ञा शून्यता अवश्य आ जाती है। उससे शरीर शान्त हो पड़ा रहता है। परन्तु शान्तिमय आनन्ददायक निद्रा का आनन्द तो एक परिश्रमी व्यक्ति ही उठाता है अन्य नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि रोगी को निद्रा लाने वाली अनेक औषधियों का दुष्प्रयोग करना पड़ता है। डाक्टर लोग इसमें (मार्फिया) का इंजेक्शन देते है। बहुधा इसकी मात्रा में गड़बड़ होने से मृत्यु भी होती देखी गई है। हृदय पर इसका अवसादक प्रभाव पड़ता है। सर्पगंधा, प्रेमपुष्पी आदि बूटियों का प्रयोग इसमें विशेष सहायक है एवं निरापद है। इसकी उत्तम चिकित्सा के लिए पन्ना भस्म का प्रयोग हितावह है। शिरोवस्ति तेलाभ्यंग भी हितकर है। वास्तव में बुध के विकार से उत्पन्न व्याधि बुध से सम्वन्धित रत्नोपरत्न धातु आदि के प्रयोग से ही शान्त होती है। बुध मण्डल में एक प्रकार की तरंगें उठती हैं जो मानव को विचार विनिमय में लगाती है। जिस प्रकार नद, नदी आदि में निरन्तर तरंगें प्रवाहित होती रहती हैं। उसी प्रकार बुध मण्डल में भी ये तरंगें देखी गई हैं। शल्य चिकित्सा में आप्रेशन क्रिया के बाद ये तरंगें स्पष्ट दिखाई देती हैं। जिस व्यक्ति की जितनी गहरी तरंगें होंगी, वह उतना ही बुद्धिमान होगा। यह निष्पक्ष सिद्धान्त है। मोटर साइकिल के ऊपरि भाग में जो ऊपर यन्त्र लगा रहता है, वह हवा से स्वतः ही ठण्डा रहता है। उसी के आधार पर इंजन चलता रहता है। गर्म नहीं होता। पानी की आवश्यकता नहीं होती, वह अपनी शक्ति से इंजन को ठण्डा रखता है। उसी के अनुसार इंजन छोटा-बड़ा होता है। जितना छोटा होगा उतनी ही इंजन की शक्ति कम होगी। जितना बड़ा होगा उतनी ही शक्ति अधिक होगी। यह हम प्रतिदिन के व्यवहार में देखते

हैं। इसी आधार पर जितनी अधिक तरंगें बुध मण्डल में होगी मनुष्य उतना ही अधिक बुद्धिमान होगा।

विचारिये—एक ही कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थी जिनको गुरु समान शिक्षा देता है किसी प्रकार का अन्तर नहीं, परन्तु एक अच्छे अंक प्राप्त कर उत्तीर्ण होता है, दूसरा उसके विपरीत अनुत्तार्ण। इनमें उनकी पढ़ाई या विद्या का दोष नहीं बल्कि बुध मण्डल की विषमावस्था है। अर्थात् दिन भर खेलकूद में रहने वाला विद्यार्थी थोड़ी देर ध्यान से पढ़ने पर उत्तम अंक प्राप्त करता है। और दिन भर रट्टा लगाने वाला सफल नहीं होता। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बुध मण्डल की गति जिसमें अधिक है वह अधिक बुद्धिमान तथा जिसमें न्यून है वह न्यून।

यह अवस्थान्तर भेद से जाना जाता है। यह प्रज्ञा पराध बड़े-बड़े व्यक्तियों में भी पाया जाता है। जो पढ़-लिखकर भी प्रज्ञापराध के कारण पढ़े-लिखे मूर्ख कहलाते हैं।

ऐसे लोगों की कमी नहीं। केवल पुस्तकों के रटने मात्र से विद्वान् नहीं बनता, यह तो बुध मण्डल की देन है। एक अक्षर भी न जानने वाले बड़े-बड़े धुरन्धरों को परास्त कर देते हैं। यह है बुध मण्डल का चमत्कार।

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः।
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स पंडितः॥
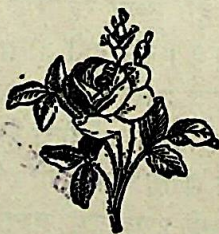
❀ बृहस्पति मंडल ❀

बुध मण्डल से नीचे ललाट प्रदेश को बृहस्पति मण्डल कहते हैं। यह मस्तिष्क का एक भाग है। बृहस्पति देवगुरु होने के कारण उत्तमाङ्ग ललाट स्थान पर विद्यमान हैं। यह हमें धारणा शक्ति देता है। बुध मण्डल द्वारा जो विचार उत्पन्न हुआ उसे धारणा शक्ति द्वारा बृहस्पति मण्डल कार्य रूप में परिणत करता है। इसका रत्न पुखराज तथा धातु स्वर्ण है। मेह प्रधान रोगों में पुखराज एवं स्वर्ण का प्रयोग श्रेयस्कर है। इस मण्डल में होने वाली रक्तवहिनी शिराएं अति-सूक्ष्म एवं सद्य प्रभावशाली होती हैं।

जिस प्रकार मुख्य स्थान से स्विच को दबाने पर सभी स्थानों पर बिजली प्रकाशित होती है उसी प्रकार कोई भी विचार मन में आये बिजली की तरह इन शिराओं में तरंगें उठने लगती हैं। जब तक कोई निर्णय न हो जाय ये तरंगें समाप्त नहीं होतीं।

प्रायः देखा गया है कि मार्ग चलते व्यक्ति अपने आप बातें करते चलते हैं। उनसे कोई बात नहीं कर रहा है फिर भी वह बातों में संलग्न मार्ग नाप रहे हैं। उन्हें यह ध्यान ही नहीं रहता कि हमें जाना किधर है, बातों ही बातों में कहीं के कहीं जा निकलते हैं। यह है विचार तरंग का प्रभाव। प्रायः यह स्थिति व्यापारी वर्ग में या विरहियों में मिलती है। व्यापार में घाटा, किसी से धोखा, अधिक धन का होना, मानसिक चिन्ता। इन

कारणों से मनुष्य अपने आपे में नहीं रहता। विचार सागर में डूब जाता है।

उदाहरण के लिए—दुष्यन्त विरह में चिन्ता निमग्न शकुन्तला अपने पास आये दुर्वासा ऋषि को न देख शाप भाजन बनी। कहने का अभिप्राय यह है कि अनन्य मन से चिन्तन करने पर पास बैठा व्यक्ति भी नहीं सूझता। मन का स्थान हृदय है चिन्तन मन में होना चाहिए। परन्तु मन का प्रधान स्थान हृदय होते हुए भी विचार तरंग प्रवाह बृहस्पति मण्डल में होता है मन की सर्वत्र गति होने से। यथा—

> मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
> मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः॥
>
> अथर्व १०।२।२

अथर्ववेद में मस्तिष्क और हृदय का सम्बन्ध इस प्रकार वर्णन किया है। परमात्मा ने मानव के मस्तिष्क और हृदय को नाड़ियों द्वारा परस्पर मिलाकर विवेक सामर्थ्य प्रदान किया है। परन्तु स्वयं मनुष्य ज्ञान से अनादि, अनन्त एवं सर्वशक्तिमान होने के कारण परे हैं।

बृहस्पति देवगुरु हैं, अतः उत्तमांग ललाट में इनका स्थान है। विचार शक्ति का प्रादुर्भाव ललाट प्रदेश से ही होता है यौगिक परिभाषा में ध्यानावस्था इसी प्रदेश से प्रारम्भ होती है तथा इसी में अवसान है।

ध्यानी लोग इसका अच्छी प्रकार अनुभव कर सकते हैं साधारण व्यक्ति भी कहीं बैठा अपने घर या किसी व्यक्ति, वस्तु का स्मरण करता है तो सम्पूर्ण क्रिया आंख मूंदते ही ललाट

प्रदेश में घूमने लगती है। इच्छित व्यक्ति या वस्तु प्रत्यक्ष के समान सामने आ जाती है।

इसका स्नायुजाल इतना सूक्ष्म, सूक्ष्मतर होता है कि सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर भी पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। इस का आकार एक बारीक जाली के समान है। और यह जाली ललाट प्रदेश को घेरे हैं। जन्म समय के ब्रह्म लेख इसी में उद्धृत होते हैं। ऐसी लोकोक्ति है। मृत्युपरान्त, दाहक्रिया करने पर अग्निशिखा के बीच जलते हुए ललाट का निरीक्षण करने पर वास्तव में एक स्लेट के समान ललाट का आकार दिखाई देता है। जैसे किसी ने उस पर कुछ लिख दिया हो, ऐसा प्रतीत्त होता है। कई बार श्मशान में शव के साथ जाने पर दाह क्रिया करते समय कुछ समय वहां रहा गया तथा इसका अनुभव हुआ।

शल्य चिकित्सक भी इसका अनुभव कर सकते हैं। ललाट के ऊपर की त्वचा साफ करने के बाद जो ललाटास्थि दृष्टि-गोचर होती है, उसका आकार ठीक स्लेट के समान रहता है। उसमें जो अक्षर विन्यास है उसी को ब्राह्मी लिपि कहते हैं। पुराणों के आधार पर इसे ही भाग्य रेखा माना गया है।

'यत्पूर्वं विधिना ललाट लिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः'।

अर्थात् विधाता ने जन्म समय जो ललाट में लिख दिया उसे मिटाने में कोई समर्थ नहीं। इसी के आधार पर कर्म चक्कर चलता है। और मानव अपने-अपने कर्मानुसार कार्य कर तथा आगामी कार्यक्षेत्र बना इहलोक लीला समाप्त करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि बृहस्पति मण्डल में सम्पूर्ण जीवन की कहानी लिखी है और इसी के अनुसार मानव सुख दुःख आदि भोगता है। वास्तव में यह ललाट पट्ट ही इस

जीवन चक्र का एवं सुख दुःख भोग्याभोग्य का आधार पट्ट है। इस पट्ट के अक्षर विन्यास के आधार पर ही कोई राज्य कर रहा है। किसी के तन पर वस्त्र नहीं, पेट में रोटी नहीं। किसी के यहां अन्न सड़ रहा है, खाने वाला नहीं, यह है विधाता की रूपरेखा।

कर्माऽनुबंधीनि मनुष्यलोके। गीता १५।२

इस मनुष्य लोक में कर्म के अनुबन्ध से ही जीव जन्म ग्रहण करता है। इसको मानव शरीर में व्यक्त करने वाले हैं बृहस्पति सभी विद्याओं के अधिपति।

यह सिद्धान्त निश्चित है कि जिस व्यक्ति का जो मण्डल अधिक तेजस्वी होगा। वह उतना ही भाग्यशाली तथा महान होगा (आकृति विज्ञान में)।

संसार में होने वाली आकृतियां अचिन्त्य शक्ति प्रभु की माया से नाना रूप धारण कर इतस्तत भ्रमणशील हैं। मानव की कृति में आप समानता पायेंगे। अर्थात् मनुष्य एक वस्तु को बना वैसी अनेक वस्तुओं का निर्माण करता है परन्तु आप संसार के एक कोने से दूसरे तक चले जायें, आपको समान आकृति नहीं मिलेगी। कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होगा। तादात्म्य नहीं। यही है उस लीलाधर की लीला। जो असंख्य वस्तुओं के निर्माण पर भी सब में भिन्नता रखता है। यह विधि का लेख, और उसका प्रधान स्थान है ललाट, इस मण्डल में होने वाले विकारों को दूर करने के लिए सौम्य औषध प्रयोग ही उपादेय है। कारण शरीर का यह भाग अधिक विचारशील है, इसमें जितनी सूक्ष्म औषधि का प्रयोग होगा, सद्यः लाभकारी होगी।

आज हम देखते हैं कि शिरोवेदना स्त्री-पुरुष सभी में प्रायः समान रूप से पाई जाती है। इसका कारण स्पष्ट है, चिन्तामग्न इस संसार को भोज्य पदार्थों में मिलावट, अशुद्ध भोजन उस पर चिन्ता का भार इतना कि मस्तिष्क सहन नहीं कर सकता। परिणाम यह होता है कि शिर को बांध मानव खाट की शरण ले तड़पता रहता है। शिरोवेदना कोई स्वतन्त्र व्याधि नहीं, आमाशय में स्थित कच्चा मल पित्त की उष्मा से तपने पर वायु की द्रुतगति से ऊपर जा वेदना कारण बनता है। यदि उदर शुद्धि रहे तो कोई कारण नहीं कि यह रोग सताये। परन्तु अज्ञ लोग इस ओर ध्यान न दे नई धारणा के बहाव में बहते हुए हानिकर तत्वों का उपयोग करते हैं। ज़िनका हृदय पर घातक प्रभाव पड़ता है। हृदय निर्बल हो जाता है। कुछ दिन इनका सेवन करने पर शरीर इनका अभ्यस्त हो जाता है। बिना इनके खाये सिर दर्द नहीं जाता। उधर पैसे देकर दूसरा रोग खरीद लिया जाता है। बार-बार कहते हैं दिल बैठा जाता है। हृदय कमजोर है। क्या करें। परन्तु अपने प्रज्ञापराध पर ध्यान नहीं देते। यदि प्रारम्भ से ही उदर शुद्धि की ओर ध्यान दिया जाय तो शिरोर्ति आदि रोग हो ही नहीं सकते। परन्तु मानव अपने ही शरीर में रहने वाले महान शत्रु आलस्य के चंगुल में फंस अनेक रोगों का शिकार बनता है।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।

आलस्य ही शरीर में रहने वाला महान् शत्रु है। इस शत्रु की विद्यमानता में शान्ति से रह सकेंगे इसमें सन्देह है। यदि निरोग रहने की चाह है तथा चाहते हैं स्वस्थ जीवन तो इस शत्रु को भगा भ्रान्त धारणाओं को दूर कर महर्षि आत्रेय के वचनानुसार परिहेय वस्तुओं का परित्याग कर जीवन सुखमय बनावें।

महर्षि के वचन माननीय हैं।

यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्यौषधं हितम् । आत्रेयः

जिस देश का जो प्राणी है उसके लिए वहीं की औषधि हितकारक है। कारण कि जहां के जलवायु से यह शरीर बना है, वहीं की औषधियां उस शरीर के लिए उपयुक्त होंगी। क्यों कि रक्तसाम्य उत्पत्ति साम्य होने से। शिरोर्ति आदि कोई स्वतन्त्र रोग नहीं, ये आमाशय दूषित होने से उत्पन्न होते हैं। इनकी सफल चिकित्सा उदर शुद्धि ही है। ये शुद्ध रहने पर पाचन क्रिया ठीक रहेगी तथा कोई रोग नहीं सताएगा। विचार का कार्य बृहस्पति मण्डल करता है। अतः मस्तिष्क का कार्य करने वाले व्यक्ति स्निग्ध पदार्थों का बलाबल अनुसार सेवन करें मस्तिष्क नहीं थकेगा।

प्रयोग—१ छटांक गोघृत, २ मासा उत्तम केशर, ६ मासा मिश्री या गुड़, पीस घी में पका लें। शीशी में भर सुरक्षित रखें। प्रातःकाल दोनों नासिकाओं में दो-दो बूंद टपकाने से अर्थात् घृतनेति करने से शिरोर्ति नहीं होगी। एवं मस्तिष्क गत नाड़ी मण्डल सबल होकर सभी प्रकार के शिरो रोग शान्त होंगे दृष्टि तेज होगी। असमय में उपनेत्र (चश्मा) का प्रयोग नहीं करना पड़ेगा। मस्तक प्रभावान एवं ओजस्वी बनेगा।
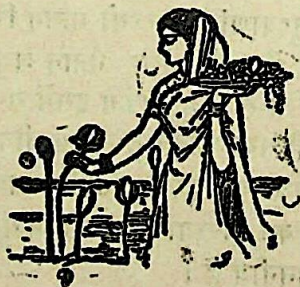
★ शुक्र मंडल ★

शरीर में शुक्र का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका रत्न हीरा तथा धातु वंग हैं। शरीर के लिए वंग ओजस्कर है।

वगं भक्षयतो नरस्य न
भवेत्स्वप्नेऽपि शुक्रक्षयः।

वंग का सेवन करने वाले का स्वप्न में भी शुक्रक्षय नहीं होता।

दैवी दानवी दो क्रम से सृष्टि मानी है। देवगुरु बृहस्पति एवं शुक्र दानव गुरु है। वास्तव में शुक्राचार्य एक ऐसे आचार्य हैं, जिनकी तुलना में ये स्वयं ही हैं। शरीर में शुक्राशय इनका स्थान है। वैसे शुक्र सर्व शरीर गत माना है। अर्थात् ओज सम्पूर्ण शरीर में रहता है। तभी तो ब्रह्मचारी लोग ओजस्वी कहलाते हैं। इसी ओज को सन्तानेच्छु व्यक्ति संघर्षण द्वारा ऐच्छिक पेशियों से एकत्रित किये गए ओज को शुक्राशय में से मूत्रेन्द्रिय द्वारा बाहर निकलता है, तब सन्तान उत्पन्न करने में सहायक होता है। स्त्री की जननेन्द्रियां जितना आवश्यक होता है उसका आचूषण कर जलीय अंश को बाहर कर देती हैं। तब एक भ्रूण स्त्री के भ्रूण के साथ मिलकर पिता का प्रतिरूप बन नये रूप में स्त्री की जननेन्द्रिय द्वारा बाहर आता है। इसी लिए शास्त्र वचन है, "आत्मा वै जायते पुत्रः" आत्मा का प्रतिरूप ही पुत्र होता है। पूर्ण ओजस्वी व्यक्ति इसी को आत्मसात् कर इसकी ऊर्ध्वगति कर लेता है। उसे ऊर्ध्वरेता कहते हैं। जो योगिराज सिद्ध महात्मा त्रिकालयज्ञ प्रभु समकोटि प्राप्त करते हैं। वह इस पाखण्डी संसार से परे रहते हैं। उन्हें इसकी आव-

श्यकता नहीं। वही इस पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत अधोरेता घृत कुम्भ के समान हैं। जो किञ्चित् संसर्ग पाते ही पिघलने लगते हैं। यथा—

अग्निकुण्ड समा नारी, घृतकुम्भसमो नरः।
संसर्गेण विलीयेत, तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥

नारी अग्नि के कुण्ड के समान है तथा नर घृत कुम्भ के समान हैं। इनके संसर्ग से विकार उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अतः इसका निषेध ही उपयुक्त है। शुभकामना चाहने वाला व्यक्ति इस मोहमयी माया का दर्शन मात्र से मस्त कर देने वाली सुरा का परित्याग कर ही शान्ति प्राप्त कर सकता है। शास्त्र-कारों ने इस सुरा की उपमा इन्द्रायण के फल से दी है जिस प्रकार इन्द्रायण का फल ऊपर से सुन्दर मनमोहक होता है। परन्तु भीतर से कटु दुर्गन्धि पूर्ण विरेचन देने वाला। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में "विष रस भरा कनक घट जैसे" उसी प्रकार यह भी मोक्ष मार्ग पर चलने वालों के लिए दर्शनीय सुन्दर मोहक होते हुए भी परिहेय है। बचो इस मोहमयी निन्द्रा से जो वाक्वाण नयनवाण द्वारा मर्माहत कर मोह निद्रा में चिरकाल के लिए सुला देती है। सुरा को तो पीने से ही मस्ती आती है। इसके तो दर्शन मात्र से ही मानव पागल हो जाता है। मस्ती की बात तो दूर रही। पुराणों में वर्णित कच देवयानी प्रसंग इसकी मार्मिकता का द्योतक है।

देवासुर संग्राम में हारे हुए देवताओं ने विचार किया कि शुक्राचार्य अपनी संजीवनी विद्या द्वारा असुरों को पुनर्जीवित कर लेते हैं। जबकि बृहस्पति इस विद्या से अनभिज्ञ हैं। अतः इस विद्या का अपहरण करनाचाहिए। यह प्रस्ताव बृहस्पति के सामने आया। बृहस्पति पुत्र कच विद्याध्ययन के लिए उद्यत हुआ।

शुक्राचार्य के यहां पहुँचा। वहां सर्वप्रथम उनकी कन्या देवयानी से भेंट हुई, अतिथि सत्कार के बाद शुक्राचार्य से सब सत्य कहा कि मैं बृहस्पति पुत्र कच आपके पास विद्याध्ययन के लिए आया हूं। आचार्य शत्रु पुत्र को देख क्षुब्ध न हुए प्रत्युत विद्या देने के लिए सहमत हो गए। यह समाचार जब दैत्यों को मिला तो उन्होंने कई बार कच को मार डाला। परन्तु शुक्राचार्य ने संजीविनी विद्या द्वारा उसे पुनर्जीवित कर लिया। देवयानी कच को हृदय से चाहती थी। परन्तु कच पूर्ण ओजस्वी ब्रह्मचारी अपने व्रत पर अडिग रहा। संजीविनी विद्या प्राप्त करने आया कच अपने कार्य में पूर्ण सफल रहा। अनेक प्रलोभन एवं कष्ट आने पर भी अपने व्रत पर सुदृढ़ निश्चय से लोक कल्याण की भावना से सुख-दुःखों की अवहेलना कर संसार को सुमार्ग दिखा सका।

मनस्वीकार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्।

अब इसे इस शरीर में स्पष्ट देखिए। देवयानी शब्द देवताओं की ओर गमन करने वाली नाड़ी सुषुम्ना का नाम है। जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। देवता उत्तमांग शिर में वास करते हैं। दानव अधो भाग में। अतः यह नाड़ी ओज को देवताओं की ओर ले जाने से देवयानी है। अर्थात् ओज की गति ऊर्ध्वरेता के आधार पर ऊपर को होने से सूर्य, चन्द्र, बुध, गुरु मण्डलों को ओज दे शरीर को ओजस्वी बना देती है। जब यही नाड़ी सर्पिणी बन विष प्रदान करती है, तब यमराज सदनातिथि बना देती है। ऊर्ध्वरेता व्यक्ति इस नाडी की सहायता से अमृत पान कर अमर हो जाता है। इसके विपरीत अधोरेता अपने ओज को वृथा इसके चाञ्चल्य में आ जीवन गंवा बैठता है। तब यही सर्पिणी का रूप धारण कर विष प्रदान करती है। इसी

से संसार मृत्यु का ग्रास बनता है। ओजस्वी व्यक्ति दीर्घ एवं सुखी जीवन ञिताते हैं। इसके विपरीत असंयमी अकाल में ही काल कवलित हो जाते हैं। शुक्र सम्बन्धी अनेक रोग हैं, जो वीर्य विकार के कारण उत्पन्न होते हैं। असंयमी व्यक्ति इन रोगों के शिकार होते हैं।

इन्हें निदान में प्रमेह के नाम से स्पष्ट किया है। यह २० प्रकार का माना है। इसका एक भेद और है जिसे मधुमेह कहते हैं। आज इस रोग का विशेष बाहुल्य देखा जाता है। यह स्त्री पुरुष सभी में प्रायः देखा गया है। इसकी चिकित्सा में पाश्चात्यों ने इन्सुलीन नामक औषधि द्वारा इसे दूर करने की चेष्टा की।

पीछे कह आये हैं कि यह शरीर त्रिदोषमय है। अतः त्रिदोष की चिकित्सा के आधार पर दोष दूष्य लक्षणों द्वारा ही चिकित्सा सम्भव है। शुक्रजन्य जितने भी रोग हैं। उन पर वंग का प्राधान्य है हीरक सेवन से भी इस व्याधि का निराकरण हो जाता है। यह सर्वसुलभ न होने से सर्वसाधारण के लिए कठिन है। कुछ प्रयोग दिये जाते हैं इनके प्रयोग से लाभान्वित हो सकते हैं।

१. भांग भांगरा गोरख मुंडी, सोंठ सतावर और निर्गुण्डी।
इन सबका चूरण कर लीजै, सभी प्रमेहों को हर लीजै॥

२. सिद्ध रसायन एवं निरंजन फल का सेवन भी प्रमेह रोग को नष्ट करता है।

३. करेले का स्वरस, जामुन, धातकी, बिल्व स्वरस आदि का प्रयोग भी सद्य लाभप्रद है।

४. धनिक वर्ग के लिए वसन्त कुसुमाकर रस हीरे वाला विशेष लाभ कर वस्तु है।

५. हिंस्राक्षार भी रोग की सर्वसाधारण के लिए परमोपयोगी औषध हैं।

६. कैथ स्वरस पारद भस्म इस रोग की रामवाण औषधि है।

७. वंग को शुद्ध कर कड़ाही में डाल मुक्ताशुक्ति का चूर्ण कर थोड़ा-थोड़ा डालते जाएं। समभाग चूर्ण समाप्त होने पर तेज आंच कर दें इस प्रकार करने पर भस्म तैयार हो जाएगी। फिर इसको ७ भावना घृत कुमारी की देकर गजपुट में फूंक दें। फिर पलाश पुष्प के क्वाथ या स्वरस की भावना ७ देकर गजपुट में भस्म कर लें। यह भस्म अनुपान भेद से सभी प्रमेहों को नष्ट करती है स्त्रियों के प्रदर प्रसूत वात की यह परमौषध है। अनुपान म ु, दुग्ध, मक्खन आदि अनुकूलता पर दें।

शनि मंडल

तमोगुणप्रधान यह शरीर के अङ्ग कामादि पर रहता है। अर्थात् इसका स्थान कामाद्रि माना है। जो स्त्री पुरुषों में समान रूप से विद्यमान है। यौवन अवस्था प्रारम्भ होने पर इसका विशेष उठाव होने लगता है। तथा काले रोम पैदा होने लगते हैं। इनका प्रारम्भ होना ही यौवन के प्रारम्भ का चिह्न है। जिन पुरुष, स्त्रियों में ये जितने ही अधिक घनिष्ठ होते हैं उनमें उतनी ही कामशक्ति अधिक होती है। जिनमें इनकी कमी या अधिक नरम रेशम जैसे होंगे उनकी प्रकृति उतनी ही नरम तथा कामशक्ति कम होती है।

प्रायः इन्हें साफ करने की प्रथा है। परन्तु कुछ मत ऐसे भी हैं, जो इन्हें साफ न कर दाढ़ी-मूछों की तरह स्थायी रखते हैं। जहां तक आयुर्वेद तथा स्वास्थ्य का सम्बन्ध है, इन्हें साफ करना ही उपयुक्त है। साफ करने के वाद प्याज को बीच से काटकर उसके रस से उस स्थान को फिटकरी के समान रगड़ने से विशेष लाभ होता है। अर्थात् जिस प्रकार क्षौर करने के वाद फिटकरी मुख पर लगाने से फुन्सी आदि की आसंका नहीं रहती, उसी प्रकार इनके साफ करने पर भी प्याज के रस से लेपन या मालिस विशेष उपयुक्त रहती है। जब तक व्यक्ति जीवित रहता है, तब तक शीघ्र पतन या अन्य गुप्त रोगों का शिकार नहीं बनता।

अस्तु यह निर्विवाद सत्य है कि शनि-शनैः शनैः चरति गच्छति, इति शनैश्चरः की व्युत्पत्ति के आधार पर धीरे-धीरे

चलने के कारण इसका नाम शनैश्चर है। ज्योतिः शास्त्र में इसकी संज्ञा मन्द भी दी है। अर्थात् जिस स्थान पर यह अपना प्रभाव रखता है, वहां ७।। वर्ष से कम नहीं, इसी को साढ़े साती भी कहते हैं। जिस स्थान को यह अपनी शुभ दृष्टि से देखता है, उसे पूर्ण धनधान्य से पूर्ण बना देता है। इसके विपरीत यदि त्रिकोण या अशुभ दृष्टि से देखता है, तब कोई संशय सर्वनाश में नहीं। यह है इसकी महिमा। इसका रत्न नीलम तथा धातु लौह है। नीलम धारण से इसकी शान्ति होती है। यह गुण नीलम में भी विद्यमान है। यदि राशि पर ठीक हैं तो शुभ कारक लाभप्रद होगा। अन्यथा विनाश में तो कोई सन्देह ही नहीं।

अनुभव ने सिद्ध किया है कि आपने कोई नीलमक्रय किया, यदि राशि पर ठीक हैं तो जिस समय आय क्रय कर बाहर आयेंगे। तुरन्त लाभप्रद होगा। यदि राशि पर ठीक नहीं है तो तत्काल हानि पहुँचा देगा। रत्न पारखियों ने इसके तोल एवं खरीद में विशेष अन्तर रखा है। इसे एक या दो दिन भुजा में बांध परिणाम देख धारण करना चाहिए।

तमोगुण प्रधान कार्य जितने भी शरीर में होते हैं, सब इसी देव की देन है। लड़ाई, झगड़ा, वैमनस्य तथा अन्य उत्पात शरीर में देखे जाते हैं इन सब पर इसकी छाप है। अतः इसका ऐसे स्थान पर अधिकार है, जहां मानव अपने आपको बड़ा शूरवीर और सर्वेसर्वा समझता है। अहंकार में किसी को प्रश्रय देना असम्भव है। इसकी तीन अवस्थाएं होती हैं, बाल, युवा, वृद्ध जिस राशि को यह देखता है, उस पर २।। वर्ष बाल दृष्टि से जिस पर यह रहता है, उस पर २।। वर्ष युवा दृष्टि से, जिस राशि से यह आया है उस पर वृद्ध दृष्टि से देखता है। इस

प्रकार ढाई-ढाई बांटने से इनका योग ७॥ साढ़े सात होता है। अर्थात् एक राशि को साढ़े सात वर्ष प्रभावित करता है। यह है इसकी गति तथा शरीर में देन।

इसे सूर्य पुत्र माना है। ठीक सूर्य के स्थान से सीधा शरीर के बीच में इसका स्थान है। सौर मण्डल का इस पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। इससे निश्चय होता है कि पिता पुत्र का पूर्ण सम्बन्ध है। शल्य क्रिया के आधार पर यहां की मांस-पेशियों को यदि स्पर्श किया जाय तो सर्व प्रथम उसका प्रभाव सौर मण्डल पर पड़ता है। अर्थात् मस्तिष्क में विशेष तरंगें उठने लगती हैं। जैसे—लोक में आप देखते हैं किसी के पुत्र को कुछ कहा जाय तो पिता दुःखी या प्रसन्न होता। उसकी मानसिक स्थिति विचित्र हो जाती। इसी प्रकार यहां भी पिता पुत्र सम्बन्ध अपनी घनिष्ठता का द्योतक हैं। इसकी उत्तेजना बिना सौर मण्डल के नहीं होती। जिस समय प्राणी कामासक्त हो कामाद्रि का स्पर्श करता है, उस समय सौर मण्डल में एक प्रकार की तरंगें प्रवाहित होने लगती है और वे तरंगें जब तक काम शान्त नहीं हो जाता तब तक अविरल रूप से समुद्र मंथन सा करती रहती हैं। तथा सौर मण्डल स्थित विवेक तभी जागृत होता है, जब वह काम वासना पूर्ण हो जाती है। इससे पूर्व इसका शान्त होना असम्भव सा है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रतिदिन लोक में देखे जाते हैं। विस्तार की आवश्यकता नहीं।

विवेक शील व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर इसे कसौटी पर कस सकते हैं। इसके विकार का उपाय केवल विवेक ही है। यदि विवेक या मन की शान्ति ने धोखा दिया तो इसकी चिकित्सा न हुई है न होगी। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि इसके जाल से न बच सके औरों की तो गाथा ही क्या।

नीलम धारण तथा सेवन इसमें विशेष उपयुक्त हैं। रावण आदि महाबलियों की भी इसके सामने कुछ न चली। साधारण मनुष्यों की तो गिनती ही क्या की जाय।

हां! यदि इस पर अधिकार करना है तो मन पर अधिकार करने की चेष्टा कीजिये। जिससे इस शरीर का कल्याण हो सके—

तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।

राहु, केतु मंडल

यह युगल एक दूसरे के सामने रहता है। ज्योतिशास्त्र के आधार पर एक दूसरे से सातवें स्थान पर रहता है। जो बारह का आधा होता है। राशि बारह हैं। इससे ठीक सामने-सामने इनकी स्थिति है। मानव शरीर में इनका स्थान जंघा से लेकर पैर तक माना है। वास्तविक स्थान जंघा है, यहीं से अपनी अधोदृष्टि द्वारा सम्पूर्ण पांव की गतिविधि का निरीक्षण करते हैं। ज्योतिः शास्त्र की दृष्टि से जन्म कुंडली में ठीक आपस में ये एक दूसरे से सातवें स्थान पर रहते हैं। दोनों के मध्य में ५ राशि रहती हैं। शरीर गणना के हिसाब से भी एक से दूसरी जंघा तक बीच में ५ स्थान ही आते हैं। सातवां स्थान इनका ही है। इनके रत्न क्रमशः गोमेद और वैडूर्य हैं। धातु कांसी और कान्त लौह हैं। शरीर के आधार स्तम्भ ये दो पैर ही हैं। इनके बिना मनुष्य पंगु है। इनकी अशक्तता में मानव किसी भी कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि पैर पुष्ट हैं तो शरीर पुष्ट है हर प्रकार के कार्य में समर्थ है। इनका क्रिया-कलाप शरीर के अन्य अंगों से भिन्न है। इन्हें कर्मेन्द्रिय माना है। जितने भी गतिमय काम हैं इन्हीं द्वारा होते हैं। व्यक्ति जितना भी बलिष्ठ

होगा उसकी जंघाएं उतनी ही वलवती होंगी। इनकी मांस-पेशियां बड़ी तथा बलशाली और फैली हुई होती हैं। सौर तथा चन्द्र मण्डल पर इनका प्रभाव तिरछा पड़ता है! ज्योतिः शास्त्र के आधार पर राहु-केतु द्वारा ही सूर्य, चन्द्र ग्रहण होना बतलाया है। वास्तव में शरीर में दोनों पैरों का स्थान लेकर ही सम्पूर्ण शरीर पर इन्होंने अपना आधिपत्य जमाया है।

जब नाफ (धरण) नाभिचक्र गिर जाती है पुरुष हो या स्त्री उस समय उसे अतिसार हो जाता है। शरीर में इसे धुरी-चक्र के नाम से पुकारा है। जैसे गाड़ी में पहिये के बीच लगी धुरी पहिये को गतिमान करती है। इसी प्रकार यह शरीर की धुरी (धरण) शरीर को गतिमान करती है। इसके व्यत्यय से शरीर निस्तेज आभाहीन हो जाता है। इसको ठीक करने के लिए सर्वांगासन आदि आसन करने उपयुक्त हैं। इनसे यह अपने स्थान पर आ जाती है। दोनों पैरों को धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठाते चले जाइये। जब तक पूरे शरीर का भार छाती पर न आ जाये। शरीर में पूर्ण तनाब उत्पन्न हो जायेगा। इसे सर्वांगासन कहते हैं। इसके करने से अनेक प्रकार के रोग शान्त हो शरीर स्वस्थ रहता है। किसी प्रकार का कब्ज, नाभि टलना, उदर विकार आदि व्याधियां नहीं सताती।

पुराणों के आधार पर देवासुर संग्राम के बाद समुद्र मंथन किया गया। तब चौदह रत्न समुद्र में से निकले। देव-दानवों में संघर्ष चला कि अमृत कलश हम लेंगे। बीच बनाव कर श्री मंगलमय भगवान् विष्णु मोहिनी रूप में बंटवारा करने को सन्नद्ध हुए, सब पंक्तिबद्ध हो बैठ गये इसी बीच राहु देवपंक्ति में बैठ गया। जब इसे अमृत मिल चुका तो सूर्य चन्द्र ने विष्णु से उसके देवपंक्ति में बैठने की ओर संकेत किया। परिणाम-

स्वरूप विष्णु ने सुदर्शन चक्र द्वारा उसका सिर काट दिया। अमृत प्रासन के कारण वह अमर हो चुका था अतः उसका धड़ केतु के रूप में परिणत हो गया। अब यह राहु केतु इन दोनों रूपों में विख्यात है तभी से ये दोनों समय पाते ही अपना वैमनस्य निकालने के लिए सूर्य तथा चन्द्र का ग्रास करते हैं। यही सूर्य चन्द्र ग्रहण हैं। पौराणिक गाथा का आधार कुछ भी हो। यहां हमें आयुर्वेद दृष्टि से बिचार करना है, जब सूर्य से उत्पन्न पित्त तथा चन्द्र उत्पन्न कफ दोनों जंघाओं तथा संधि-स्थानों में वायु द्वारा शुष्क कर दिये जाते हैं, तब ग्रंथि वात, अर्धांग वात, आक्षेप आदि वात व्याधियां हो जाती हैं। पैर मुड़ जाते हैं, चलना फिरना बन्द हो जाता है। मर्मस्थानों में चुभन होने लगती है। ये सब कार्य तब होते हैं जब पित्त तथा कफ को दूषित कर वायु संधि स्थानों में जो रोगोत्पादक बनाता है। ऐसी स्थिति बालकों में भी देखी गई है। मूकता, वधिरता, अपंगता आदि दोष इस युगल की कृपा से ही होते हैं। कारण इनकी प्रवृत्ति कांट-छांट में ही लगी रहती है।

आयुर्वेदज्ञ इन रोगों को वात प्रधान मान वात चिकित्सा करते हैं। परन्तु सफलता देवी के दर्शन नहीं होते। कारण यहां कफ विकृति प्रधान हैं। सन्धि स्थान में रहने वाला कफ वायु द्वारा शुष्क कर दिये जाने के कारण यह रोग उत्पन्न होते है। अतः यहां त्रिदोष साम्य चिकित्सा करने वाले वैद्य ही इनमें सफलता प्राप्त करते हैं।

अतः त्रिदोष पर आश्रित इस शरीर की व्यवस्था उसी के आधार पर होनी चाहिए। पीछे कह आये हैं कि यह शरीर त्रिदोषमय है अतः त्रिदोष साम्य ही इसकी चिकित्सा है।

त्रिदोष विवेचन

त्रिदोष क्या है—

आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति त्रिदोष वाद पर आधारित है।

चेष्टा चेतनयोस्तनौ तनुभृतां, धाता तु वायुस्मृतः।
यत्तापं परितोदधात्यविरतं, देहे हि पित्तं तु तत्॥
यश्चाश्लिष्य वपुः सदा रसयति, प्रीणाति सोऽयं कफः।
श्चेत्येतै प्रकृति स्थितैरविरतं, देहं हि संधार्यते॥

शरीर में चेष्टा, चेतनता, ज्ञान विचार शक्ति को देने वाला वायु है और ताप, उष्णता, चमक, तेज आदि को देने वाला पित्त है। एवं चिकनाई रसमय कार्य को जो शरीर को पुष्ट करता है, वह कफ है। इस त्रिदोष के प्रकृतिस्थ (अपने-अपने कार्य में लगे रहने पर) इन द्वारा यह शरीर धारण किया जाता है।

सृष्टि का प्रादुर्भाव पञ्चतत्त्व से है इन्हीं पञ्चतत्त्वों के शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध सर्वव्यापी रूप से विद्यमान हैं। इनके बिना संसार का कोई भी जीव स्थलचर या नभचर स्थावर जंगम स्थिति नहीं कर सकता। पञ्चतत्त्व की उत्पत्ति तन्मात्राओं से तथा तन्मात्रा अहंकार से अहंकार प्रकृति से है।

वास्तव में जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, सब प्रकृति का ही कार्यरूप हैं। विचार विनिमय से स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति गुणत्रय से युक्त हैं। ये ही तीनों गुण, सत, रज तम रूपान्तर से दोषत्रय कहलाते हैं। ये ही वात, पित्त, कफ समावस्था

में स्वास्थ्यप्रद तथा विषमावस्था में रोगोत्पादक होते हैं। इसी विज्ञान द्वारा विचार कर महर्षियों ने हमारे लिए एक अमूल्य निधि प्रदान की है। खेद है कि आजकल हम अपने विज्ञान को भूल अन्यो के पीछे अन्धानुकरण करते हुए अपनी निधी को खो इधर-उधर भटक रहे हैं।

त्रिदोष विज्ञान के सिद्धान्त को न समझ अज्ञ लोग आयुर्वेद पर वृथा आक्षेप किया करते हैं। निराश न होना चाहिए। समय की गति आयुर्वेद के इन तात्त्विक विषयों पर सूक्ष्म दृष्टि आयुर्वेद विद्वानों के हृदय में सत्य-संकल्प का अंकुर प्रस्फुटित करेगी।
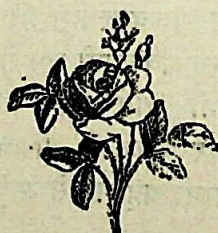
वायु

पाणिनीय व्याकरणानुसार "वा गति बंधनयोः" गति तथा बन्धनार्थक धातु से वायु शब्द की सिद्धि होती है। वायु शरीर में दो रूपों में विद्यमान हैं। (१) धातुरूप, (२) मलरुप सूक्ष्म एवं इन्द्रियों के अगोचर हैं। केवल इनकी क्रिया द्वारा ही इनका अनुमान लगाया जा सकता है। शरीर में इनकी स्वाभाविक तथा विकृति क्रियाओं के लक्षण इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होते हैं कि जिन्हें देखकर सूक्ष्म विचारशील विद्वान धातु रूप दोषों की स्थिति अच्छी प्रकार जान लेते हैं।

मलरूप स्थूल तथा सूक्ष्म इन्द्रिय ज्ञान जन्य है। जिनकी स्थिति सर्वसाधारण को स्पष्ट दिखाई देती है। गतिमय कर्म वात प्रधान होने से वायु जहां दोषों को ले जायेगा वहीं चले जाते हैं।

पित्तं पंगुः कफः पंगुः पंगवो मल धातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघत्॥

पित्त, कफ, मल तथा धातु सब लंगड़े हैं। जहां वायु ले जाता है, वहां मेघ के समान चले जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जितना भी गतिमय कार्य है सम्पूर्ण वायु की गति से ही गतिमान हैं। अतः वायु ही प्रधान है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को मन के पास पहुँचाना तथा पेशियों में वेग उत्पन्न कर चेष्टादि क्रियाएं करना गतिरूप कहलाता है, पित्ताधार से जो संकल्प विकल्पादि क्रियाएं मन में होती है सब वायु ही के क्रिया कलाप है। इस विषय में महर्षि चरक कितने सुन्दर शब्दो में उल्लेख करते हैं।

वायु, स्वतन्त्र यन्त्रधरः प्राणोदानं समान व्यानापान प्रवर्तक श्चेष्टानामुच्चावचानां नियन्ता प्रणेता च मनसः सर्वेन्द्रियाणामभिवोढाः 'चरक सू० अ० १२।' वायु शरीर के सब आशय और यन्त्रों को धारण कर इन क्रियाओं को चलाता है। इसे पांच भेदों में विभक्त किया गया है। १. प्राण, २. उदान, ३. समान, ४. व्यान, ५. अपान।

हृदय, कण्ठ, उदर, त्वक् तथा गुह्यादि स्थानों में इसके कार्य पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं। स्थूल से स्थूल, सूक्ष्म से सूक्ष्म सभी क्रियाओं का प्रवर्त्तक वायु है। मन की प्रवृत्तियों को बनाने वाला तथा प्रेरक सभी इन्द्रियों में चैतन्य, कर्ता एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि को धारण करने वाला है। चरक के इस सिद्धान्त के अनुसार पाश्चात्य विद्वान् जिसे 'नर्व कोर्स' कहते हैं। महर्षि इसे वायु कहकर पुकारते हैं।

षट् चक्र तथा नाड़ी मण्डल पाश्चात्यों का (नर्व सिस्टम) हैं। जब तक किसी वस्तु को प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता, तब तक विश्वास नहीं होता। इसी आधार पर जब तक बिजली के प्रभाव को प्रत्यक्ष नहीं देखा, तब तक इसकी शक्ति को मानने में विश्वास नहीं था, परन्तु जब प्रत्यक्ष रूप में इसकी शक्ति के प्रभाव को देखा, तब इसे स्वीकार करना पड़ा। इसी प्रकार आचार्यों द्वारा कथित वायु प्रमाण भी प्रत्यक्ष है। यह शक्ति सर्व शरीर संचारी और कुछ नहीं वायु ही है। जिसकी शक्ति से शरीर के सभी अवयव कार्य संलग्न रहते हैं। महर्षियों ने इसका स्वरूप इन्द्रिय ज्ञान द्वारा वर्णन किया है।

'स्पर्शवान् वायुः' त्वगेन्द्रिय द्वारा वायु का ज्ञान स्पष्ट होता है। जैसे—

रूक्ष; शीतोलघुः सूक्ष्मः, चलोऽथ विशदः खरः।

विपरीत गुणै द्रंव्यैः मारुतः संप्रसाम्यति। वायु, रुक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद तथा खर गुण युक्त हैं। इसके विपरीत गुण धर्म द्रव्यों से इसकी शान्ति होती है।

महर्षि चरक बार-बार इस ओर संकेत करते हुए कितना सुन्दर विवेचन करते हैं। प्रकृतिस्थ वायु के गुण धर्म कथनानन्तर विकृत वायु के विषय में लिखते हैं।

कुपितस्तु शरीरं नाना विधैः विकारैरूपतपति बल वर्ण सुखायुषामुपघातस्य, भवति, मनो व्यावर्तयति, सर्वेन्द्रियण्युप-हति, इति।

कुपित वायु शरीर में आध्मानादि रोग नाना प्रकार से उत्पन्न कर देता है। मनुष्य के बल वर्ण सुख तथा आयु को नष्ट करता है मन में विकार उत्पन्न करता है और इन्द्रियों को शक्ति हीन बनाता है। महर्षि ने वात प्रकृति के स्वरूप को सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। इसका स्पष्ट ज्ञान कर कौन ऐसा है, जो इसे स्वीकार न करे कि महर्षि लोग नाड़ी मण्डल को हाथ में रखे दर्पण के समान देखते थे। 'वायु' इन दो अक्षरों में कितना तत्त्व भर गये हैं। जैसे—महर्षि सुश्रुत ने स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है।

प्रस्पन्दनोद्वहन पूरण विवेक धारण लक्षणो वायुः, पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति, सु० सू० अ० १५॥

प्रस्यन्दनउद्वहन, पूरण, विवेक, धारण इन नामों से तथा प्राण, उदान, अपान, समान, ब्यान इन नामों से शरीर में विद्य-मान रहता है। इनमें प्रधान प्राण है। प्राण, वायु, बुद्धि, चित्त एवं इन्द्रियों को हृदय तथा हृदयगन भावों को अपने इच्छित

भाव की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। इसका मुख्य स्थान सूर्य का स्थान (ब्रह्म रंध्र हैं) कारण प्राण वायु सूर्य से ही प्रमुख शक्ति प्राप्त करता है। सूर्य किरण अपनी शक्ति द्वारा प्राण वायु (आक्सीजन) विष्णु पदामृत, प्राण शक्ति को उत्पन्न करती हैं। शरीर में जीवनीय शक्ति ही मुख्य है।

उदानवायु—(छाती) वक्षस्थल में रहता है। उड्यानबंध आदि यौगिक क्रियाओं में सहयोगी है।

व्यान—वायु हृदय में रहता है, तथा रक्त की गति समान रखता है, एवं हृदय की रक्षा करता है।

समान वायु—आमाशय में रहता है, तथा आहार के परिपाक में सहायक होता है।

अपान वायु—पक्काशय में रहता है, तथा उदर के निम्न भाग में रहने के कारण शुक्र, आर्तव, मूत्र, पुरीष, गर्भ आदि के बाहर निष्क्रमण में सहायक होता है। तात्पर्य यह है कि यही वायु पांच भागों में विभक्त हो शरीर के सभी अंगों में अपना अपना कार्य कर सहायक बनता है। जब इसमें विकार उत्पन्न होता है, तब यह दूषित वायु शरीर की संधियों में पहुंच अंग शैथिल्य ज्वरादि रोग उत्पन्न कर देता है। जब वायु का दूषितांश आमाशय में पहुंचता है तब ज्वर हृद्रोग, अरुचि आदि हो जाते हैं। जब फुफ्फुस और प्राणवाही स्रोतों में पहुँचता है तब प्रतिश्याय (जुकाम) कास, श्वास आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जब सिर में पहुंचता है, तब शिरो रोग उत्पन्न करता है। इस प्रकार वक्षस्थल, कण्ठ, फुफ्फुसों में जा कास उत्पन्न करता है। तथा कास में वक्षस्थल के क्षत के कारण कफ के साथ रुधिर भी आने लगता है। तब कफादि दोष एवं रक्त के दूषित होने

फुफ्फुस दुर्गन्धमय बन जाते हैं। समय पाकर वायु आदि के आघात से अणु समान कीटाणु जन्म ग्रहण कर लेते हैं। और शनैः शनैः धातुओं को चरने लगते हैं। जिससे मनुष्य सूखने लगता है। इस प्रकार अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने वाले साहसी पुरुषों को उरः क्षत उत्पन्न हो जाता है। फिर उसमें क्षय के ज्वरादि रूप असावधानी से प्रकट हो जाते हैं। जिससे मनुष्य शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रकृतिस्थ वायु पोषक तथा दूषित विघातक है। वातज रोगों की संख्या शास्त्रकारों ने ८० मानी है। जैसे—

१. पादभ्रंश—पैरों का उचित स्थान पर न पड़ना।
२. पादशूल—पैरों के तलुओं में वेदना होना।
३. नखभेद—हाथ-पैरों के नखों का फटना।
४. विपादिक—पैरों या हाथों की त्वचा फटना।
५. पाद सुप्ति—पैरों का सोना। चुनचुनाहट के अनुभव के साथ पैरों का अकर्मण्य होना।
६. पाद खड्ड—पैरों के तलुओं में छेद हो जाना।
७. वात गुल्फ—गुल्फ संधियों में टीस या शोथ।
८. अनिलग्रह—वायु का रुक जाना।
९. गृध्रसी—कमर के नीचे पैरों तक स्तम्भ तथा वेदना होना।
१०. पिन्डिकोद्वेष्ट - पिण्डलियों में ऐंठन होना।
११. जानु विश्लेष—जानु संधि की शिथिलता।
१२. जानु भेद—जानुओं की संधि में भेदन होना।

१३. उरु:स्तम्भ – जांघों में स्तम्भ चलने में असमर्थता।
१४. उरुषाद—जांघो में शून्यता का अनुभव होना चलने में असमर्थता।
१५. पांगुल्य—पंगुता पैरों का निर्जीव हो जाना।
१६. वात कंटक—कांटे से चुभना।
१७. गुदभ्रंश—कांच निकलना, गुदाद्वार की पेशियां शिथिल होकर मलोत्सर्जन के समय बाहर निकलना।
१८. गुदार्ति—गुदाद्वार में पीड़ा होना।
१९. वृषणाक्षेप—अण्डकोशों का ऊपर की ओर खिच जाना।
२०. शेफ स्तम्भ—जननेन्द्रिय का चेतनाहीन (निर्जीव) सा हो जाना।
२१. श्रोणिभेद—कमर में फटने जैसी पीड़ा होना।
२२. बङ्क्षणानाह—कमर की संधियों का वायु से फूल जाना।
२३. विड्ग्रह—मलवद्धता।
२४. उदावर्त—वायु का ऊपर की ओर होकर भ्रमण करना और नीचे के पदार्थों को ऊपर लाना।
२५. कुब्जता—स्नायु संकोच के कारण कुबड़ापन होना।
२६. वामनत्व—स्नायु संकोच के कारण शरीर का छोटा होना।
२७. त्रिक ग्रह—रीढ़ के नीचे की संधि त्रिक का वायु से स्तम्भ होना।
२८. पृष्टग्रह रीढ़ और पीठ की हड्डियों का स्तम्भ होना।
२९. पार्श्वशूल—पसलियों में पीड़ा होना।
३०. उदरावेष्ट—पेट में ऐंठन होना।

३१. हृदद्रव—हृदय की पेशियों की शिथिलता के कारण हृदय गिरता हुआ सा ज्ञान पड़ना।

३२. हृन्मोह—हृदय शक्ति की शिथिलता से मूर्च्छा का अनुभव होना।

३३. वक्षस्तोद—छाती में चुभने जैसी पीड़ा होना।

३४. वक्षोद्धष—छाती में कम्पन, घड़कन होना।

३५. वक्षोपरोध—छाती में अवरोध अर्थात् भरा हुआ सा प्रतीत होना।

३६. ग्रीवा स्तम्भ—गर्दन की शिराओं का स्तम्भ होना। गर्दन का अकड़ना इसे मन्यास्तम्म भी कहते हैं।

३७. बाहुशोष—भुजाओं का सूखना।

३८. कण्ठध्वंस—कण्ठतालिकाओं का सूख जाना।

३९. हनुग्रह—ठुड्डी का जकड़ जाना।

४०. दन्तचाल—दांतों का हिलना।

४१. ओष्ठ भेद—ओठों का फटना।

४२. मूकत्व—बाग्वाहिनी सिराओं के स्तम्भ से बोलने में असमर्थता।

४३. वाग्ग्रह—वाणी का अवरुद्ध होना।

४४. काषायास्य—मुंह में कषैलापन होना।

४५. आस्यशोष—मुंह का सूखना।

४६. घ्राणनाश—गंधवाही शिराओं के संज्ञा शून्य होने के कारण गंध न आना।

४७. रसाज्ञता—रस ज्ञान वाहिनी शिराओं के संज्ञाहीन होने के कारण रस का स्वाद न आना।

४८. बाधीर्य—बहिरापन शव्द, ज्ञान का सर्वथा अभाव।

४९. उच्चैः श्रवण—ऊंचा सुनना।

५०. कर्ण शूल—कानों में चुभने की सी वेदना होना।
५१. अशब्दता—कानों में बिना किसी शब्द के शब्द सुनना।
५२. बर्त्म संकोच—स्रोतों का संकुचित होना।
५३. बिष्टम्भ—हर प्रकार से शरीर का रुक जाना।
५४. तिमिर-प्रकाश में भी अंधेरा सा दीखना।
५५. आक्षि शूल—आंखों में पीड़ा चुभन सा होना।
५६. अक्षि व्यु दास—पलक न गिरना। आंखों का बंद रहना।
५७. भ्रू व्युदास—भौंहों का चढ़ा रहना।
५८. शंख भेद—शंखास्थियों, (कनपटियों) में भेदन जैसी पीड़ा होना।
५९. शिरोरुजा—सिरदर्द।
६०. केशभूमेः स्फुटनम्—सिर की त्वचा का फटना।
६१. दण्डक—डण्डे के समान स्तब्ध निश्चल हो जाना।
६२. अर्दित—मुख, ओष्ठ आदि के आधे भाग का टेढ़ा होना।
६३. एकांग—एक अंग का संज्ञा शून्य (लूला) हो जाना।
६४. पक्षवध—शरीर के आधे हिस्से का संज्ञाहीन या अकर्मण्य हो जाना।
६५. श्रम—बिना श्रम किए शरीर में थकान प्रतीत होना।
६६. भ्रम—चक्कर आना।
६७. विजृम्भा—जम्भाई या उवासी आना।
६८. प्रलाप—व्यर्थ बक-बक करना।
६९. वेपथु—कंपकंपी।
७०. ग्लानि—किसी काम में उत्साह न होना (हर्षक्षय)।
७१. रौक्ष्य—त्वचा में रूखापन।
७२. निद्रा परिक्षय—नींद न आना।

७३. श्यावारुणावभासत्व—त्वचा पर भूरी और लाल छाया का प्रतीत होना।

७४. अनवस्थान—चलने, बैठने, सोने आदि में स्वस्थ न होना मन न लगना।

७५. हिक्का—हिचकी।

७६. श्वास—दम फूलना।

७७. विषाद—सुस्ती, (चिन्ता सी रहना)।

७८. वंध्यत्व—बाँझपन (यह स्त्रियों में ही होता है)।

७९. षंढत्व—(नपुंसकता) पुरुषों में।

८०. प्रतिश्याय—जुकाम (नजला) रेशा ये प्रधानतया वायु के रोग माने जाते हैं। इनमें यथासम्भव गति आदि विचार कर लक्षणों को समझ वात प्रकोप के कारण को जान इन विकारों की शान्ति के लिए मधुर, अम्ल, उष्ण पदार्थों तथा लवण रस प्रधान वस्तुओं का प्रयोग हितावह है। (विशेष चिकित्सा प्रकरण में)।

पित्त

शरीर में सूर्य द्वारा प्रदत्त दूसरा धातु पित्त है, इसके बारह सूर्यों के आधार पर शरीर में १२ भाग हैं। यह हमें उष्मा शक्ति प्रदान कर शरीर का पोषक बनता है। सूर्य मण्डल प्रकरण में इसका विशेष विवेचन किया जा चुका है। तेज गुण, प्रधान कार्य जो शरीर में दीखते हैं। उन सब का संचालक पित्त ही है। शरीर की स्वाभाविक गर्मी, त्वचा की शोषण शक्ति अन्न का पाचन मन की तेजस्विता दृष्टि की उज्ज्वलता तथा रक्त की लालिमा यह सब कार्य पित्त द्वारा ही होते हैं। इन मूलभूत तत्त्वों को महर्षियों ने अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष किया था। महर्षिचरक द्वारा वर्णित इसका विवेचन पठनीय है।

अग्निरेव हि पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, स यदानेन्धनं युक्तं लभते तदा देहेजं रसं हिनस्ति। अर्थात्—अग्नि के प्रभाव से शरीर के सब धातुओं का निरन्तर क्षय होता रहता है। उस क्षति पूर्ति के लिए आहार रूपी इंधन पहुँचता रहता है। जब यह इंधन इसे प्राप्त नहीं होता, तब शरीरस्थ रस को भस्म कर देता है। इस प्रकार आग्नेय गुण युक्त सर्वव्यापी पित्त की सत्ता स्वीकार करते हैं।

यथा— वात पित्त श्लेष्माणः-एव देह संभत्र हेतवः। अर्थात् वात, पित्त, कफ ही शरीर के होने में कारण हैं। धातु, भूत, पित्त का क्या गुण हैं, इस विषय पर आचार्यों के सिद्धान्त स्पष्टतया स्मरणीय हैं।

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटुः।
विपरीत गुणैर्पित्तं द्रव्यैराशु विशाम्यति ।।

सस्नेह, गर्मतीक्ष्ण द्रव, अम्ल, सर, कटु आदि गुणों से युक्त यह पित्त इससे विपरीत गुण, धर्म वाले द्रव्य तथा पदार्थों से शान्त हो जाता है।

पित्त का प्रकृत स्वरूप शरीर का पोषक तथा विकृत रूप रुग्णता प्रदान करता है। जैसे—कुपित्त पित्त से विस्फोटक, अमोद्गार. गर्मी, मुंह का स्वाद विकृत होना धुंआ सा उठना प्रलाप पसीना मूर्च्छा, दुर्गन्धि, किसी कार्य में मन न लगना, प्यास चक्कर, अन्धकार में जाने की इच्छा जलन, कड़वा, तीता खट्टा स्वाद, होना आदि पित्त के विकृत रूप हैं। इन्हीं विकृत रूपों की इनसे विपरीत गुण, धर्म वाले पदार्थों से चिकित्सा करनी चाहिए।

पित्त के रोग

१. ओष—आग से जले के समान जलन होना।
२. प्लोष—शरीर के किसी एक भाग में दाह होना (छाला पड़ना।
३. भ्रम—चक्कर आना।
४. दाह—जलन होना।
५. वेमथु—वमन (उल्टी होना)।
६. धूमक—गले से धुंआ सा निकलना।
७. अम्लक—खट्टी डकार आना।
८. अन्तर्दाह—कोष्ठ के अन्तः भाग में दाह होना।
९. ज्वर—शरीर का तपना।
१०. अत्यौष्ण्य—शरीर का स्पर्श अधिक गर्म होना।
११. अतिस्वेद—अधिक पसीना आना।
१२. अंगदाहक—हाथ-पैरों में जलन।
१३. त्वग्दाह—केवल त्वचा में दाह होना।

१४. शोणितक्लेद—खून में पतलापन।
१५. मांसक्लेद—मांस में द्रवत्व (पतलापन) आना।
१६. अंगसीरण—अंगों का शिथिल होना।
१७. मांसपाक—मांस का पकना।
१८. चर्मदल—चम्बल, त्वचा का विस्फोट।
१९. रक्त विस्फोट– लाल रंग के फोड़े होना।
२०. रक्त मण्डल—रक्त कोष्ठों में मण्डल होना। यह एक प्रकार का कुष्ठ भेद है।
२१. रक्त पित्त—दूषित रक्त का नाक, नेत्र, गुदा, मेढ्र आदि मार्गों से स्राव होना।
२२. कोठ—शोथ के साथ गोल चकत्ते होना।
२३. कक्ष्या—करवौरी बाहुओं, पसलियों और कांख में वेदनायुक्त फोड़े होना।
२४. हारिद्रता—शरीर का रंग हल्दी के समान पीला हो जाना।
२५. नीलिका—शरीर पर नीले दाने उभर आना।
२६. कामला—आंखों में पीलापन होना।
२७. तिक्त वक्त्रत्व—मुंह का स्वाद तीता बना रहना।
२८. रक्त गन्धास्यता—मुंह से रक्त के समान गन्ध आना।
२९. अतृप्ति—पूरा भोजन करने पर भी तृप्ति न होना।
३०. पूति वक्त्रत्व—मुंह से दुर्गन्ध आना।
३१. जीवादान—अत्यन्त ग्लानि कहीं बैठने या ठहरने की प्रवृत्ति न होना।
३२. तमः प्रवेश—अन्धकार में प्रवेश का सा आभास होना।
३३. तृषा—प्यास लगना।
३४. मेढ्रपाक—जननेन्द्रिय का पकना।

३५. गुद पाक—गुदा का पकना।
३६. गलपाक—गले का पकना।
३७. अक्षिपाक—आंख का पकना।
३८. आस्यपाक—मुंह का पकना।
३९. हारिद्रमूत्र—हल्दी के रंग का मूत्र होना।
४०. हारिद्रविट्—हल्दी के रंग की टट्टी होना।

प्रधान रूप से ये पित्त के विकार हैं।

गुण—लाघव, उष्णता और तीक्ष्णता।

रंग—श्वेत रंग को छोड़ पित्त में सभी रंग हैं।

प्रतिकार—कषाय, तिक्त, मधुर रसों का सेवन, स्नेहन वमन विरेचन रक्तमोक्षण, शुष्क पदार्थों का सेवन पित्त के प्रतिकार हैं।
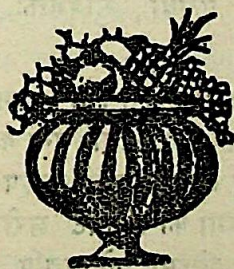
कफ (श्लेष्मा)

सोम गुण प्रधान यह धातु शरीर में ११ भाग में विद्यमा है, अर्थात् पित्त के बारह भाग हैं तो कफ के ग्यारह भाग शरी का पोषण करते हैं। पित्त के समान धातु रूप कफ भी अतीन्द्रि पदार्थ है। शरीर में (तरावट) तर्पण रखना अर्थात् शरीरस सभी पदार्थों को मिलाये रखना इसका कार्य है, मुख्य विष इसका स्नेहन होने से ये शरीर में स्नेहन क्रिया के कारण पुष्टि कर है। पित्त को अग्नि स्वरूप माना है, इसी आधार पर क को जल स्वरूप मानते हैं। अग्नि का धर्मदाहक हैं जल का ध शीतता। अर्थात् शरीर में अपनी स्नेहन क्रिया द्वारा सम्पू शरीर का सिंचन करता है। इस विषय में महर्षि सुश्रुत वाक्य मनन योग्य है। यथा—

सन्धि, श्लेशण, स्नेहन, रोपण, पूरण, बृंहण, तर्पण, ब स्थैर्यंकृत्, श्लेष्मा, पंचधाः, सुविभक्तः, उदक कर्मणानुग्र करोति।

सन्धियों में चिकनाहट (तेल के समान चिकनापन) स्नेह कण्ठ, जिह्वा आदि को तर रखना, अन्न का क्लेदन धातुओं क पूरण तथा पोषणादि जल के कार्य स्वरूप कफ शरीर को त रखता है। यदि श्लेष्मा की तरावट शरीर में न रहे तो शरी जल उठे। अतीन्द्रिय श्लेष्मा को यद्यपि आचार्यों ने एक ह स्वीकार किया है, तथापि कार्य भेद से पित्त के समान इसके भ ५ भेद हैं। जैसे श्लेष्मक, क्लेदक आदि धातु रूप प्रत्यक्ष क आचार्य इस प्रकार वर्णन करते हैं।

गुरुः शीतः मृदुः स्निग्धः मधुरः स्थिर पिच्छितः।
श्लेष्मणः प्रशमंयांति विपरीत गुणै गुणाः॥

आचार्यों के इस उपदेश का मनन परमावश्यक है। नासिका या मुख द्वारा जो श्लेष्मा गिरता है वह मलरूप है। जैसे—

विसर्गादान विक्षेपैः सोम सूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं, कफ पित्तानिलास्तथा॥

विसर्ग आदान तथा विक्षेप से (तर्पण शोषण, साधारण) चन्द्र, सूर्य तथा वायु जिस प्रकार कफ, पित्त, वायु भी शरीर को धारण करते हैं।

कुपित कफ तृप्ति, तन्द्रा, गुरुता, निश्चलता, कठिनता, मल की अधिकता, स्निग्धता, अपाक, शीतता, खुजली, प्रमेह, दीर्घ सूत्रता, अति निद्रा, लवण और मधुर रसता, श्वेत वर्णता और आलस्य प्रदान करता है। मल मूत्र वायु के विषय में कितना मार्मिक विवेचन महर्षि चरक ने लिखा है।

पक्वाशयन्तु प्राप्तस्य शोषमानस्य वह्निना।
परि पिण्डित पक्वस्य, वायुः स्यात् कटु भावतः॥
किट्टि मन्यस्य विण्मूत्र रसस्य च कफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्य च मलो मलः स्वेदस्तु मेदसः॥ (चरक)

अग्नि द्वारा शोषित पक्वाशय में अन्नादि द्रव्य वात द्वारा कटु भाव को प्राप्त मूत्र पुरीष भाव को प्राप्त होते हैं। एवं रक्त का मल कफ मांस का मल पित्त मेद का मल पसीना होता है।

वात, पित्त, कफ शरीर के तीन स्तम्भ हैं तथा हेतु लक्षण औषधि ये तीन स्कन्ध हैं। अवस्था क्रम, रात, दिन, ऋतु, अन्न विपाक आदि सम्पूर्ण कार्य कलाप में वात, पित्त, कफ का ही प्राधान्य है। जिससे सम्पूर्ण कार्यजात होता रहता है तथा इसी के विपरीत होने से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। अर्थात् त्रिदोष समावस्या में मनुष्य को वर्षों तक रख सकता है। यही विषमा-वस्था में क्षणभर का अतिथि बना देता है। यह विज्ञान उन

महर्षियों के मस्तिष्क की उपज है, जिन्होंने :—

"सर्वे भवन्तुसुखिनः" का सन्देश लोक-कल्याण की भावना से संसार को दिया।

कफज रोग

कफ के असंख्य रोगों में प्रधान बीस प्रकार निम्नोक्त हैं—

१. स्तैमित्य—त्वचा पर गीलापन अनुभव होना।

२. गुरुगात्रता—शरीर में भारीपन होना।

३. निद्रा—नींद अधिक आना।

४. तन्द्रा—ऊंघना, जागृत अवस्था में भी नींद का अनुभव करना।

५. अतितृप्ति—बिना भोजन किए ही भोजन किए समान भासना।

६. मुख माधुर्य—मुंह में मीठापन।

७. मुख संस्राव—मुंह से पानी निलना।

८. कफोद्गार—मुंह से बार-बार कफ निकलना।

९. बलक्षय—शक्ति क्षीण होना।

१०. हृल्लास– हृदय का कफ से लिप्त रहना।

११. मलाधिक्य—नासिका, नेत्रादि में मल का अधिकसंचय होना।

१२. धमनी लेप—वात वहन करने वाली धमनियों का अवरोध।

१३. कण्ठ लेपक—गले का कफ से जकड़ जाना।

१४. आम दोष—धातु और मल का कच्चा रहना।

१५. गलंगड—गले में बाहर की ओर निकला मांस पिण्ड

१६. वह्निसाद—अग्नि की मद्दता।

१७. उद्दंक—त्वचा पर खुजलाने वाले मण्डलों का निर्माण
१८. श्वेतांगावभासता—त्वचा आदि का सफेद प्रतीत होना।
१९. श्वेत मूत्रता—मूत्र का सफेद होना।
२०. श्वेत पुरीषता—मल का श्वेत होना।

इस प्रकार असंख्य कफ विकारों में से प्रधानतथा २० प्रकार के कफ रोग बतलाये गये हैं।
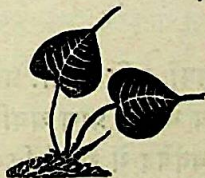
हृदय (Heart)

शरीर का यह सबसे महत्त्वपूर्ण अंग एक मांस पिण्ड है। इस क्रिया को करने वाले अङ्ग अलिन्द और निलय हैं। यहां रक्त पहले महा धमनी फिर धमनियों में जाता है। सुश्रुत के मतानुसार रक्त वाहिनी नाड़ियों का नाम धमनी कहा गया है। रक्त का स्थान हृदय है। रक्त हृदय से चौबीस धमनियों में प्रविष्ट होता है। दश धमनियों द्वारा ऊपर दश द्वारा नीचे और चार धमनियों द्वारा तिरछा प्रवाहित होता है। इस प्रकार रक्त सम्पूर्ण शरीर का निरन्तर सिंचन करता रहता है। फिर कोशिकाओं में प्रवेश कर शिरा मार्ग से पुनः हृदय में प्रवेश करता है। इसकी गति एक बार में प्रायः ७२ बार मानी जाती है। इस परिभ्रमण में सबसे अधिक समय कण्ठस्थान में लगता है और वह है १५ सैकिण्ड, (१५ पल) उपनिषद में इसको यों वर्णन किया है।

हृदिस्थाः देवताः सर्वाः हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिता; हृदय में ही सब देवता है और हृदय में ही प्राण अवस्थित हैं। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए अथर्ववेद में स्पष्ट किया है।

प्राणः सिन्धूनां कलशं अचीक्रदिन्दुः।
नृतस्य हार्दिमाविशन् मनीषया ॥

भाव—प्राण वायु जीव की इच्छा से प्रेरित हृदय कमल में यथा मार्ग प्रवेश करता हुआ रक्त वहन करने वाली नाड़ियों के रक्त से शब्दायमान रक्ताशयों को पुनः पुनः कम्पाता है।

यहां सिन्धु शब्द का अभिप्राय नाड़ियों से है। यथा कणाद स्पष्ट करते हैं—

आपादतः प्रतत गात्रमशेषमेषाम् ।
आमस्तकादपि च नाभि पुरः स्थितेन ॥
एतन्मृदङ्ग इव चर्मचयेन नद्धम् ।
कार्यं नृणामिह शिराशत सप्तकेन ॥

नाभि से ऊपर मस्तक तक और निम्न भाग में पैरों तक यह सम्पूर्ण शरीर मृदङ्ग के समान ७०० शिराओं से बंधा हुआ है। यह निरन्तर अपने कार्य में रत रहता है। दूसरे शब्दों में इसे नारद भी कह सकते हैं। नार जल का पर्यायवाची शब्द है। जलीय अंश प्रधान रक्त इसमें प्रधान है। अतः "द" का अर्थ दान होने से यह सम्पूर्ण शरीर में इसे देता है। इस कारण इसे नारद कहना युक्ति संगत है। मन का अधिष्ठान हृदय ही है। चंचल गति मन चन्द्र से सम्बन्धित है। एक क्षण रुके बिना यह अहर्निश कार्यरत रहता है। इसलिए भी यह नाम इसके लिए उपयुक्त है। पुराणों के आधार पर ऋषि-नारद की भी यही गति मानी है। इधर-उधर भ्रमण तथा संसार को चक्कर में डालना उनका काम रहा है।

हृदयं वै चेतना स्थानम् ।

इस सूत्र के आधार पर हृदय चेतना का स्थान है। चेतना शक्ति द्वारा ही संसार का कार्यजात सम्पन्न होता है। शरीर संसार भी इसके चक्कर में है। अर्थात् मानव इसके अधीन है, स्वतन्त्र नहीं।

दूसरे शब्दों में इस प्रकार उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि आधुनिक विज्ञान वेताओं ने वाहन के लिए नाना प्रकार के साधन बनाये हैं जिनमें मोटर, रेल, हवाई जहाज आदि प्रमुख हैं इन सब में एक विशेष वस्तु रखी है, जिसे "कारवेटर" कहते हैं। इसका काम टंकी से पैट्रौल या तेल ले उसे साफ कर इंजन

में पहुँचाना है। जब तक यह अपना कार्य सुचारू रूप से करता रहता है। तब तक इंजन ठीक गति से चलता रहता है। जब यह अधिक या कम तेल देने लगता है, इंजन में गड़बड़ी पहुँचती है। अधिक तेल देने पर 'मिस फायर' अर्थात् फट्-फट् की आवाज आने लगती है। कम तेल पहुंचने पर गाड़ी गति नहीं पकड़ती।

इसी प्रकार शरीर में जब रक्ताधिक्य के कारण रक्तबहा-नाड़ी अधिक रक्त प्रसारण करती है, तब रक्तचाप (ब्लड प्रैशर) की व्याधि हो जाती है। जब रक्त की कमी होती है उस समय रक्ताल्पता कहलाती है। अतः सिद्ध हुआ कि शरीर रूपी गाड़ी का 'कारवेटर' हृदय ही है। इसी के सहारे शरीर अवस्थित है। जब इसकी गति बन्द हो जाती है, तब कह देते हैं, (हार्ट फेल) हृदय गति अवरोध हो गया और प्राणी अपनी अन्तिम यात्रा कर लेता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इसको शुद्ध रखने के लिए आवश्यक है कि हम अपने आहार व्यवहार पर पूरा ध्यान दें। हाँ, तो इस हृदय की गति के कारण ही हमारी गाड़ी गतिमय होती है। इसी का परीक्षण कर वैद्य शरीर की गतिविधि का पूर्ण वृत्त बतला देते हैं। वातज, पित्तज, कफज कौन रोग है इसका निदान नाड़ी द्वारा ही किया जाता है।

प्रायः पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की नाड़ी अधिक गतिशील होती है। भोजन के बाद नाड़ी की गति बढ़ जाती है। परिश्रम करने, दौडने आदि पर भी नाड़ी की गति बढ़ जाती है। भ तथा हृदय की निर्बलता में नाड़ी की गति निर्बल तथा वेगवती होती है। गर्भावस्था में ३ मास के पश्चात् कुछ शिथिल होने लगती है। तथा श्वास संख्या में वृद्धि हो जाती है। प्रा

आयु तथा बल वृद्धि के साथ नाड़ी की गति कम तथा सबल हो जाती है। हृदय निर्बल होने पर वृद्धावस्था में फिर बढ़ जाती है। इसी आधार पर हृदय गति से नाड़ी देखकर बल क्षीणता रोग आदि का निर्णय किया जाता है। इसी रक्त क्रिया की विशेष पद्धति द्वारा शरीर परिवर्तित होता रहता है। अर्थात् जो बच्चा अभी उत्पन्न हुआ है। ३।। घण्टे बाद या कुछ समय बाद जब आप देखेंगे तो उसके शरीर में आपको विशेष अन्तर प्रतीत होगा।

कुछ दिन बाद इसी क्रिया द्वारा बढ़ता हुआ युवा हो जाता है और फिर इस क्रिया के आधार पर वृद्धावस्था आ फिर वही क्रम पञ्चता अर्थात् मृत्यु हो जाती है। यह क्रम अनन्त काल से चल रहा है और चलता रहेगा। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार भी कर सकते हैं।

यह शरीर २७ नक्षत्र तथा त्रिदोष और ९ अंकों में विभाजित है। इसी कारण यदि शरीर को ९ अंकों में विभाजित करें तो ९×३=२७ होता है। २७ को जोड़ देने पर ९ ही संख्या बनती है। इसी को ३ में विभाजित करने पर वात, पित्त, कफ के रूप में इसके ३ ही रूप रहते हैं। ० का आधा भाग लेने से ३।। बने इस आधार पर माना जाता है कि यह शरीर हर ३।। घण्टे में बदलता रहता है अर्थात् हृदय अपनी गति के आधार पर रक्त शरीर का चक्कर लगाता हुआ बार-बार इसी क्रम को रखता है। जो रक्त ३।। घण्टे पूर्व हृदय से चला था ठीक ३।। घण्टे पर बार-बार परिपाक पाने पर सूक्ष्म ओज का रूप धारण कर लेता है। और तभी शरीर में परिवर्तन आता है। कारण ओज ही शरीर का राजा है। प्रारम्भ में ही लिखा जा चुका है कि रसरक्तादि सप्त धातु जो वस्तु हम खाते-

पोते हैं उसका परिपाक मात्र है। भोजन का परिपाक ठीक ३॥ घण्टे में हो जाता है। तदनन्तर रस बनता है। यही रस क्रमशः परिपाक होकर ३॥ घण्टे में रंजक पित्त की सहायता से रक्त का रूप धारण कर लेता है इसी आधार पर ३॥-३॥ घण्टा के हिसाब से सभी धातुओं में परिपाक होता रहता है और अन्तिम धातु ओजपूर्ण होने पर शरीर में कान्तिमय परिवर्तन आता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, जो भोजन आज किया उस का शरीरस्थ २७ नक्षत्रों के हिसाब से जो शरीर की कशेरु-काओं के रूप में रीढ़ की अस्थि का रूप बनाते हैं। ठीक २७॥ वें दिन ओज बन जाता है। यही चक्र प्रतिदिन चला, जो भोजन आज किया उसका ओज २७॥वें दिन जो भोजन कल किया उसका उसके अगले दिन इस चक्र के आधार पर प्रतिदिन भोजन प्रतिदिन ओज बनता रहता है। अर्थात् यह क्रम प्रति क्षण चलता रहता है इसी क्रम से स्त्रियों में रजो दर्शन स्वस्थावस्था में ठीक २७ दिन के बाद २८वें दिन ही होता है और चार दिन में शुद्ध हो जाता है। स्त्री को स्वास्थ्य प्रदान कर सन्तान योग्य बनाता है।

रुग्णाओं की स्थिति भिन्न है। यहां स्वस्थ प्रकृति का वर्णन है। सो इस हृदय (नारद) द्वारा ही सब कार्य बना इसी की पौष्टिकता शरीर की पौष्टिकता बनी। तभी २७ को ३ में त्रिभाजित करने पर ९ अंक बने और ९ को ३ में संयुक्त करने पर शरीर के आधार स्तम्भ बात, पित्त, कफ बने। आधा भाग अर्ध नारीनटेश्वर प्रभु (चिन्मय) का मिला देने पर ठीक ३॥ में विभाजित हो जाता है। इसी से हम मानते हैं कि यह शरीर ३॥ घण्टे में पूर्ण परिवर्तित हो जाता है इस कार्य को करने वाला अङ्ग है हृदय। जो शरीर में सर्वोत्तम स्थान रखता है।

मातृ गर्भ में आने पर कार्य प्रारम्भ करता है, तथा जीवन पर्यन्त कार्यरत रहता है। कभी विश्राम नहीं लेता।

हृदय का व्याधित स्वरूप—

अत्युष्ण गुर्वन्न कषाय तिक्त।
श्रमाभिघाताध्यशन प्रसंगैः॥
संचिन्तनैर्वेग विधारणैश्च।
हृदामयः पंच विधः प्रदिष्टः॥ (माधव)

अति उष्ण (गर्म) अति तीक्ष्ण, रुक्ष, गुरु, कषाय, एवं तिक्त रस प्रधान द्रव्यों का अतियोग विरुद्ध भोजन अध्यशन (भोजन के ऊपर भोजन) असात्म्य भोजन, अजीर्ण, आम, अति विरेचन, अति वस्ति, अति व्यायाम (श्रम) छर्दि (वमन) गदातिचार (रोगों का मिथ्या उपचार) रोग कुछ हो और चिकित्सा कुछ और इसे मिथ्या उपचार कहते हैं। आघात (प्रहार) आदि चिन्ता, भय, त्रास, वेगों का रोकना एवं शरीर को कृश करने वाले अन्य कारणों से हृदय रोग ग्रस्त होता है। व्यायाम के अति योग से पहलवानों में तथा अति चिन्तन से धनिक वर्ग में इस रोग का प्राधान्य प्रायः पाया जाता है।

दूषयित्वा रसं दोषाः विगुणाः हृदयंगताः।
कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोगं तं प्रचक्षते॥

दोष रस को दूषित कर हृदय की ओर प्रेरित करते हैं। तब हृदय में बाधा उत्पन्न होती है।

इसका उपाय दूषित कारणों से मिथ्याहार विहारादि से दूर रहना ही श्रेयष्कर है। (विशेष चिकित्सा प्रकरण में)।

मन

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवंतदुसुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

मानव की चेतना शक्ति मन है। तत्त्व के विकास के कार
ही मनुष्य पशु से एक पृथक् व्यक्तित्व रखता है। जितना
जिसका मन जिसके आधीन एवं विकसित है, उतना ही
मनुष्य है। क्योंकि अपने आरम्भिक रूप में तो मनस्तत्व प
में भी है। मन का वर्णन विभिन्न प्रकार से मनीषियों ने कि
है। शरीर विद्याविद् शरीर के विकास में एक विशेष अ
मानते हैं। जिसे मस्तिष्क की संज्ञा दी है। उनका कथन है
मस्तिष्क ही मनुष्य की संकल्प, भावना, कल्पना एवं विच
चिन्तन का मूलतत्त्व है।

संकल्प विकल्पात्मकं मनः

दार्शनिक दृष्टि से मन एक सूक्ष्म छठी इन्द्रिय है। मन
दूसरी पांच इन्द्रियों का उपयोग करता है। आंख, कान, जि
और त्वचा तो यन्त्र मात्र है। जिनके द्वारा मन तत्तत् स्व
का ग्रहण करता है। इसी प्रकार मस्तिष्क भी एक यन्त्र मा
है। जिसके द्वारा मन में भावना, कल्पना, विचार और चिन्
की क्रियाएं होती हैं। परन्तु सशक्त मन में इन यन्त्रों के बि
भी सीधे वस्तु के साथ सम्पर्क करने की शक्ति विद्यमान है
दूर दृष्टि, दूर श्रवण आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस
अभ्यास कर एक स्थान पर बैठा व्यक्ति दूसरे स्थान की व
को प्रत्यक्ष देख सकता है। विचार भाव ग्रहण कर सकता है
संकल्प विकल्पात्मक शक्ति का ही अधिष्ठान मन है।

विकास क्रम

सृष्टि की रचना सच्चिदानन्द के चित्स्वरूप के द्वारा चिन्मय शक्ति से हुई है। प्रत्येक वस्तु एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनी है। जड़ तत्त्व की अचेतना और अन्धकार में सोये हुए आत्मा को जगाने के लिए विकास क्रम में पहले प्राण का आविर्भाव हुआ। फलतः एक संवेदन की सृष्टि तो हुई। पर तब तक सचेतन व्यष्टि की स्थापना न हो पाई। प्राण में बहु है परं बहु में एकत्व अवचेतन है। इसलिए एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है, जो इस अवचेतन एकत्व को दूर कर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से पृथक् करके जना दे। जिससे इस सृष्टि का जो हेतु है "बहु" के अन्दर पूर्ण सच्चिदानन्द एकत्व की प्रतिष्ठा उसे क्रमशः सन्धित किया जा सके। इस कार्य को करता है मन। यह सचेतन व्यक्ति की सृष्टि करता है।

मन में जागृति होने पर ही व्यष्टि में अपने आपका और जगत् का बोध होता है। मन विभाजन का कारण है। अपने सार रूप में यह वह चेतना है, जिसका काम नापना, तोलना, सीमा बांधना, अविभाज्य वस्तु के टुकड़े-टुकड़े करना है। फिर इन टुकड़ों को इस प्रकार रखना मानो प्रत्येक टुकड़ा अपने आप में पूर्णता रखता हो। यह वह दर्पण है, जिसमें बड़े से बड़े तथ्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। मन वर्तमान या भूत घटना को क्षण-क्षण में अपने आगे ले आता है और उसकी मूर्त्तियां घड़ता रहता है।

इसके अतिरिक्त कल्पित स्वरूपों को वर्तमान और भूत के संस्कारों के मिश्रण से इच्छित रूप बनाता रहता है। परन्तु इस प्रकार बनाये गये ये स्वरूप प्रायः ठीक नहीं उतरते। जब ये तैयार हो जाते हैं, तब यह देखता है कि ये तो विकृत और

अपूर्ण हैं। तब यह सोचता है कि जो कुछ सोचा था उसके स्थान पर और ही बना डाला।

विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरः। वाली कहावत चरितार्थ होने लगती है। अर्थात् गणेश को बनाने लगे पर बन गया बन्दर। ऐसा क्यों होता है। इस ज्ञान के लिए हमें विश्व सत्ता के लोकों के क्रम को फिर स्वयं मन की ही नाना भूमिकाओं को पृथक्-पृथक् जानना होगा।

मन की सत्ता के सात लोक—

आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्माण्ड के दो भाग किये जा सकते हैं। परार्ध और अपरार्ध। परार्ध भाग के लोक सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, (अतिमानस) इस विज्ञान लोक में ही सृष्टि का सम्पूर्ण चित्र बनाया जाता है। इस लोक में जो कुछ भी घटता है, वह विज्ञानमय लोक की इच्छा और निर्धारण (नियमित) के अनुसार होता है। यहां पूर्ण ज्ञान है बहुत्व पूर्ण एकत्व है। व्यष्टि को अपने सच्चिदानन्द स्वरूप की पूर्ण पहचान है। यहां सत्, चित्, आनन्द, खेल पृथक्-पृथक् आरम्भ हो जाता है। यहां विभाजन नहीं एकत्व है। यहां त्रिविध नहीं त्रैक है। यह विज्ञानमय चेतना ही संसार की सृष्टि करती है।

अपरार्ध भाग के लोक—

अन्न (जड़तत्त्व) प्राण और मन ये भूः, भुवः, स्वः, महः जनः, तपः और सत्य सात लोक हैं।

सत्य का विकृत रूप है जड़तत्त्व, चित्त का प्राण, आनन्द का चैत्य सत्ता। जिसके दो आभास हैं। हमारे बाह्य व्यक्तित्व में वासनात्मा के रूप में प्रतीत होता है। इसी का कार्य बाह्य वस्तुओं में रस लेना है उनका उपभोग करना उन पर अधिकार जमाने की चेष्टा करना है। भीतर से यह सत् पुरुष प्रभु का

सनातन अंश हमारी दिव्य सत्ता जिसमें आत्मा अपने नाना जन्मों के अनुभवों का संग्रह कर अपने पार्थिव विकास को आगे बढ़ाता है। परं जो आरम्भ में अधिकांशत: या पूर्णतः वासनात्मा से ढका रहता है, वह विज्ञान का विकृत रूप है मन। इस मन की दौड़ लम्बी है। इसकी भूमिकायें कई हैं। यह सारे अपरार्ध में व्याप्त है।

नीचे यह दैहिक अवचेतना तक जो देव लोक है जिसे अधिमानस लोक कहा जाता है। वहां तक इसकी गति है।

मन के स्तर तथा उनके धर्म—

मन की भूमिकाओं को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

१—उच्चतर भूमिकायें २—निम्नतर भूमिकायें।

उच्चतर भूमिकाएं—

१—अधि मानस, २—अन्तः स्फुरणात्मक मानस, ३—संबुद्ध मानस और ४—उच्चतर मानस।

निम्नतर भूमिकाएं—

१—बुद्धि यौगिक मन, २—इन्द्रियाश्रित मन। अधिमानस से नीचे ज्यों-ज्यों मन उतरता है। त्यों-त्यों वह अधिकाधिक स्थूल होता जाता है। अधिमानस अपने स्वभाव और कार्य में अज्ञान के खेल में विज्ञान चैतन्य का प्रतिनिधि है अथवा यौगिक है। कि वह यह परदा है, जिसके अन्दर से विज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से अज्ञान पर कार्य करता है। क्योंकि परम ज्योति की शक्ति को अज्ञान न तो सहन कर सकता है न ग्रहण। यही उपनिषदों का वह स्वर्णमय ढकना है। जिसके द्वारा परतर सत्य ढका हुआ है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्॥

यहीं से विद्या अर्थात् एकत्वमयी चेतना और अविद्या अर्थात्

विभाजनात्मक और बहुत्व परक चेतना की निश्चित क्रिया आरम्भ होती है। विज्ञान अपनी समस्त वास्तविकता इस अविद्या शक्ति को विश्वगति में रूपान्तरित करने के लिए समर्पण कर देता है। इस शक्ति को यद्यपि यहां सत्य का दर्शन प्राप्त है, फिर भी निम्नगा होने से इसे अज्ञान की जननी कह सकते हैं। विज्ञान सत्य जो सम्पूर्ण सामञ्जस्यमय है। अधिमानस में आकर असंख्य अंशों में वट जाता है। एक सत्य के अनेक सत्य हो जाते हैं। जो एक दूसरे के प्रति अपनी-अपनी पूर्णता के साधन में प्रवृत्त होते हैं। अपनी-अपनी सृष्टि निर्माण करना चाहते हैं और विभिन्न सत्यों एवं सत्य शक्तियों के संघात से बने जगतों में अपना अपना स्वामित्व स्थापित करना चाहते हैं बहुत्व के अव्याहृत खेल की पृष्ठभूमि में एकत्व की चेतना अक्षुण्ण रहती है। अधिमानस के नीचे अन्त: स्फुरणात्मक मानस भूमिका है। यहां सच्चिदानन्द एक अन्य परदे के पीछे छिप जाता है। इस भूमिका में उतरने पर मन की रचनात्मक शक्ति नहीं रहती। परं अधिमानस के निकटतम होने के कारण इस भूमिका पर शुद्ध सत्य की, शुद्ध ज्ञान की झांकी मिलती है। यही वह भूमिका है। जहां वैदिक ऋषियों को श्रुतिज्ञान होता है। इसी सहज चेतना द्वारा ही विज्ञान के अमूल्य कोष का संचय कर उसे भावी मानव जाति के लिए छोड़ा।

अन्त: स्फुरणा के नीचे संबुद्ध मानस और उच्चतर मानस भूमिकायें हैं। ये अधिमानस की वे शक्तियां हैं, जिनके द्वारा मानव मन पर उस लोक की क्रियायें होती हैं। संबुद्ध मानस वह भूमिका है जहां विचार चिन्तन भावना का प्रकाशमय दर्शन होता है। तदनन्तर उच्चतर मन में उनके रूप की सृष्टि होती है।

इस मन में अब सत्य और ज्ञान की झलक नहीं होती, रह

जाते हैं केवल विचार एवं भावना। इन दो भूमिकाओं में और नीचे उतरने पर सच्चिदानन्द अपने आपको दो और परदों के पीछे छिपा लेता है। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि ये भूमिकायें जो सच्चिदानन्द को एक-एक परदे में छिपाती हैं, साधन पथ में हमारे लिए एक-एक वे भूमिकायें हैं, जो क्रमशः एक के वाद एक परदे को चीर कर आगे सच्चिदानन्द को प्रत्यक्ष करती हैं। मन की इन भूमिकाओं की चर्चा इसलिए की गई है कि विश्व सोपान जो शुद्ध सत् के आधार पर खड़ा है और नीचे जो जड़तत्त्व पर टिका है उसकी विभिन्न सीढ़ियों को हमें एक बौद्धिक परिचय प्राप्त हो। क्योंकि इस सोपान की एक-एक सीढ़ी पर चढ़ कर और वहां की चेतना को अपनी साधारण स्थिति बनाकर ही हमें विज्ञान चैतन्य तक जो मनस्तत्व का जनक है, जिसे प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है। एक ही छलांग में कोई नीचे से कूदकर ऊपर नहीं पहुंच सकता।

इस प्रकार मूल से लेकर ऊपरी स्तर की भूमिकाओं को अपनी पृष्ठभूमि बनाकर मन के उन निम्न स्तरों की ओर प्रवृत्त होते हैं। जिनसे अभी हमारा सीधा सम्बन्ध है।

साधारणतया मन शब्द का प्रयोग उसकी इन निम्नभूमिकाओं का ही सूचक है। जो मनुष्य के विवेक संकल्प भावना कल्पना मानसिक या बौद्धिक अन्वय व्यतिरेक एवं इन्द्रिय ज्ञान से सम्बन्ध रखती है। इस स्तर की प्रथम भूमिका बुद्धि है। बुद्धि का धर्म है विवेक। यह वह शक्ति है जो बोध संकल्प दोनों कार्यों को एक साथ करती है। यह दो प्रकार की होती है। विशुद्ध और मिश्रित। विशुद्ध बुद्धि एकाग्र सन्तुलित, एक, समरस और केवल परम भाव में ही संलग्न रहती है। यही वह शक्ति है जो ऊपर से उतरते हुए परतर ज्ञान को ग्रहण कर सकती है।

बुद्धि ग्राह्यं, अतीन्द्रियम्।

दूसरी वह है जिसमें कोई स्थिर संकल्प नहीं, असंख्य विचार हैं। यह बुद्धि मन को चंचल तथा इधर-उधर भटकाने वाली क्रियाओं के आधीन रहती और बाह्य जीवन तथा बाह्य कर्मों एवं उनके फलों में बिखरी रहती हैं।

बुद्धि निम्नगामी और बहिर्मुख होकर प्रकृति के तीनों गुणों की लीला में इन्द्रियानुभवों और क्षुद्र इच्छाओं की क्रिया में लग जाती हैं या अन्तर्मुखी होकर प्रकृति के जंजाल से निकलकर आत्मा की स्थिरता और समता लाभ करती है। जब मन निम्नगा बुद्धि का आश्रय ले तर्क करने लगता है, तब उसे तार्किक मन कहते हैं।

इन्द्रियाश्रित मन

जो प्राण और शरीर के व्यापारों में रस लेते-लेते उनका इतना दास बन गया है कि इसे इन्हीं के व्यापारों का चिन्तन करने से अवकाश नहीं मिलता। इस मन के लिए वही वस्तु सत्य है, जो इन्द्रियों की पहुंच के बाहर नहीं है। जिसकी इन्द्रियां प्रत्यक्ष साक्षी देती है। जो इनकी परख से बाहर है, इसकी सृष्टि में वह सत्य ही नहीं है। यही तार्किक इन्द्रियाश्रित मन को ऊपर उठने में बाधक है।

प्रच्छन्न मन

मन का एक गुप्त स्वरूप है प्रच्छन्न मन। इसका निवास हमारी निम्नतर कर्मण्यताओं के पीछे अन्तःकरण में है। यही वह है जो अति चेतना में ऊपर उठ सकता है। किन्तु जब तक हमारा मन अपनी निम्न क्रियाओं में लगा रहता है, तब तक प्रच्छन्न मन हमसे छिपा रहता है। पर जब हम अपने बाह्य मन को शान्त करने में समर्थ होते हैं, तब हम अपने अन्तः में प्रवेश कर वहां वास करने वाले इस मन को प्राप्त करते हैं।

फिर इसे साथ ले हम.मन की उच्चतर भूमिकाओं से ऊपर उठ प्रकाश चैतन्य सामर्थ्य के साथ चिदानन्द के दर्शन पाते हैं।

इस क्रिया के पीछे सद्गुरु का वरद हस्त छिपा है, कृपा लाभ का एक समय ऐसा आता है कि हमें सचेतन का ज्ञान होता है एवं सद्गुरु के प्रसाद का आभास मिलता है। जिस कृपालाभ से हम अज्ञान के बीच में फंसे हुए अपने मन को मुक्त करने में समर्थ होते हैं। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार यह प्रच्छन्न मन अति चेतना तक ऊपर उठ सकता है, वैसे ही यह अवचेतना में नीचे भी उतर सकता है। जब तक हम उच्चतर भूकिकाओं की चेतना को अपनी साधारण अवस्था न बना लें तब तक हमें नीचे के स्तरों में प्रवेश नहीं करना चाहिए। साधन भ्रष्ट होने का भय रहता है।

मन कों शान्त करना

१—मन प्रकृति का उपकरण है। इस ब्रह्माण्ड में प्रकृति पुरुष की पारस्परिक क्रीडा हैं। यह क्रीडा प्रत्येक स्तर पर उस स्तर की चेतना के धर्म के अनुसार होती है। परार्ध विश्व में यह क्रीडा विशुद्ध है। वहां सत् के साथ चिन्मय शक्ति की परा प्रकृति की शुद्ध आनन्दमय क्रीडा है। अपरार्ध विश्व में जीव की निम्न प्रकृति के साथ क्रीड़ा है। यहां पुरुष प्रकृति के साथ तदाकार हो गया है। वह स्वयं प्रकृति बन गया है और इस प्रकार अपने स्वरूप को भूल गया है। यह क्रीड़ा द्रव्यमय है। आनन्दमय नहीं, यह सुख-दुःखमय है। इसका केन्द्र आत्मा नहीं अहंकार है और इसका प्रधान सहयोगी है मन। यह मन अपने मुख्य कार्य को छोड़ प्राण और शरीर के व्यापारों में रस लेते-लेते इन्हीं का हो गया है और यही कारण है कि हमारा भौतिक जीवन इतना अस्त-व्यस्त है। क्योंकि जो मन ऊपर के सत्य

और प्रकाश को इनके पास तक पहुंचाने का साधन था वह तो इन्हीं का हो गया है। इस रस से निवृत्त होकर वह ऊपर उठे तो हम ऊपर के सत्यों को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इस लिए इसको इनसे हटाने का एकमात्र साधन यह है कि हम इस की क्रियाओं की ओर से अपने आपको हटा लें। द्रष्टा रूप से इसकी गतिविधियों को देखते रहें। पर स्वयं भाग न लें ऐसा करने से मन की लहर धीरे-धीरे बन्द हो जाएगी और मन शांत और स्थिर हो जाएगा। इसे सांख्य मार्ग कहते हैं।

२—मन को शान्त करने का दूसरा साधन है भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम, यह भक्ति मार्ग है। मन अगर भगवान् से प्रेम करने लगे तो स्वतः विषयों से हटकर भगवान् के चिन्तन में लग जाएगा। जीवन में यह निरन्तर देखने में आता है कि मन जिससे प्रेम करने लगता है, उसी का हो जाता है। उसके बिना उसका जीवन निःसार हो जाता है। उसी का चिन्तन कर सुख अनुभव करता है। प्रेमी के लिए जो कुछ कर पाता है, जितना जीवन उसकी सेवा में बिताता है। उसी को सफल समझता है यह सब कुछ करने में आनन्द अनुभव करता है। यदि किसी कारणवश प्रिय का वियोग हो तो उसे क्षण-क्षण उसी की याद आती है। उसके सामने उसी की मूर्त्ति नाचती रहती है।

इसी प्रकार हमारा भगवान् के प्रति विशुद्ध प्रगाढ़ प्रेम हो तो हमारे मन की चिन्ता और भावना के एकमात्र विषय भगवान् ही होंगे। तब हम भगवान् के वाक्य—मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। के आधार पर उन्हीं सच्चिदानन्द को प्राप्त कर सकेंगे। जब हम एकमात्र भगवान् के हो जाते हैं तो मन को एकाग्र करने के लिए कोई प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि भगवदाकार होने पर सब

व्यापार बन्द हो भगवान् में निवास ही हमारी सहज अवस्था हो जाती है। तब अहंकार का सहयोगी यह मन बुद्धि में आकर शान्त हो जाता है और बुद्धि भी यथाक्रम आत्मा में जाकर शान्त हो जाती है। तब हमारी भगवान् के साथ पूर्ण एकाग्रता होती है।

३—मन को शान्त करने का तीसरा साधन है कर्म। भगवद् कर्म में अपने आपको इतना तल्लीन कर दें कि अन्य विषय व्यापार में समाने का अवकाश ही न मिले। साधारणतया मनुष्य के कर्म का केन्द्र अहंकार है। उसके नित्य नैमित्तिक कर्म से लेकर समाज सेवा, देश सेवा यहां तक कि दान, धर्म, पूजा, पाठ आदि सभी कर्म अहंकार को ही केन्द्र बनाकर होते हैं। अहंकार तामसिक हो या राजसिक या सात्त्विक हमारे समस्त कर्म भगवत्प्रीत्यर्थ एवं यश स्वरूप ही होने चाहिए। हमें अपनी समस्त चेष्टाओं को भगवान् के प्रति उत्सर्ग करना होगा। केवल मानसिक भाव विचार को ही नहीं अत्यन्त साधारण बाह्य क्रियाओं को भी जैसे हम भोजन करते हैं, तब हमारा यह अनुभव होना चाहिए कि इस क्रिया द्वारा प्रभु ही इसका उपभोग कर रहे हैं। इसी प्रकार सभी कर्मों में समझना। सभी कर्म भगवदर्पण होंगे, भगवान् के लिए कर्म का अर्थ है शरीर के साथ उनकी उपासना। यदि इस प्रकार हम अपने मन को इस उपासना में लगा दें तो अवश्य ही, उप, आसना (समीप) बैठना अर्थात् भगवत् प्राप्ति होगी।

यही तीन मार्ग सांख्य भक्ति कर्म हमारे लिए भगवत् प्राप्ति के सोपान हैं, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मानव किसी का भी अनुसरण कर लाभान्वित हो सकता है और इस मन को काबू कर सकता है।

निद्रा

हृदयं चेतना स्थानं, उक्तं सुश्रुत देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु, निद्रा-विशति देहिनाम् ॥

शरीर में हृदय चेतना का स्थान है। इस चेतना में जब तम आच्छादित होता है। तब निद्रा शरीर को जड़वत बना देती है। नींद दीर्घ जीवन के लिए परमावश्यक है। दिन भर के कार्य से जब मनुष्य थक जाता है। हड्डी पसली कार्यभार से चूर-चूर हो जाती है, तब प्राणी आराम करने का विचार करता है। और वह हैं निन्द्रा चिंता भार के कारण प्राणी को सुख कर नींद नहीं आती ठीक निद्रा न आने से शरीर जकड़ा सा प्रतीत होता है, मन में उत्साह नहीं कार्य करने को चित्त नहीं करता, प्रतीत होता है कि शरीर में से कुछ खो गया है। किसी भी काम में हाथ डालते कांपने लगता है बच्चे शोर करते अच्छे नहीं लगते, गृहिणी के मृदु सुकोमल वचन तीखे बाण से लगते हैं। क्यों—का उत्तर है शरीर को स्फुर्ति देने वाली निद्रा का अभाव। आज संसार की प्रायः ऐसी स्थिति है। लाखों रुपये की नींद लाने वाली गोलियां निगल कर शरीर को चेतना हींन कर मानव समाज आज इसके अभाव में दुःखी है। साथ ही जवानी में बुढ़ापे का अनुभव कर रहा है।

नित्य नई-नई विषाक्त औषधियों के प्रभाव से हृदय को दूषित कर रहा है। परं वास्तविक आनन्द दायिनी निद्रा का अभाव है। जिस प्रकार शरीर की पुष्टि के लिए अन्नादि पदार्थ आवश्यक हैं। उसी प्रकार निद्रा भी शरीर की पुष्टी के लिए आवश्यक है।

मनुष्य शरीर की तीन अवस्थायें हैं।

जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ती—

जाग्रत—इस अवस्था में हम संसार के सब कार्य जात कर्म करते हैं। इह लौकिक पार लौकिक सभी कर्मों में रत जीवन कल्याणमय बनाते हैं।

स्वप्न—यह अवस्था वह है जब प्राणि शरीर को आराम देने की इच्छा से सोने का उपक्रम करता है। तब स्वप्नावस्था शुरू होती है। इसे अर्ध चेतना के रूप में भी व्यवहृत किया है। संस्कार वश या दिन में किये हुए कर्म सामने आते हैं। पड़ा खाट में है परं सैर हवाई जहाज की कर रहा है। रंग रेलिया मना रहा है। पानी में तैरता है। नये-नये दिव्य दृश्यों को देखता है। कमी-कभी दुःखप्न भी सामने आ जाते हैं। अग्नि के बीच खेल रहा है। श्मशान में पहुंचता है। मुर्दों के स'थ खाता है। कभी-कभी स्वप्न सुन्दरी के दर्शन कर हाथ मलता रह जाता है, कुछ हाथ नहीं लगता। स्वप्नावस्था में अर्ध निद्रितावस्था होती है शरीर को कुछ आराम अवश्य मिलता है परं पूर्ण विश्राम के लिए जो स्फूर्ति मिलनी चाहिए वह नहीं मिल पाती। आलस्ययुक्त उठता है।

स्वप्न भेद—

दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तका ।
भाविको दोषजश्चेति स्वप्नः सप्त विधःस्मृतः ॥
तेष्वाद्याः निष्फलाः पंच यथा स्वप्रकृतिर्दिवा ।
विस्मृतो दीर्घं हृत्स्थो हि पूर्वं रात्रे चिरात्फलम् ॥

दृष्टः श्रुत, अनुभूत, स्वप्न लाने की प्रार्थना, या विचार कल्पित, भाविक, दोषज स्वप्न सात प्रकार का होता है।

इनमें आदि के ५ निष्फल हैं। भूला हुआ अथवा बहु समय तक याद रहने वाले रात्री के प्रथम प्रहर में आया स्वप्न चिरकाल में फल देता है।

वातज स्वप्न—

वात प्रकोपवान् रात्रावाकाश गमनादिकम् ।
यत्पश्यति पुनः स्वप्ने तद्वातजमुदाहृतम् ॥

पित्तजः स्वप्नः।

स्वप्नेषु पश्यति सुवर्ण दिनेशदीप ।
दावाग्नि किंशुक जपा मणि कर्णिकारान् ।
रक्ताब्ज षण्ड रुधिरोध तडित्समूहान् ।
पित्त प्रकोप सहितः सतु पित्तजः स्यात् ।

कफज स्वप्नः

सुप्तस्तु पश्यति समुद्र नदी सरांसि ।
मुक्ताफल प्रकर हंस सिताब्ज शंखान् ॥
नक्षत्र कुन्द कुमुदेन्द तुषार पातान् ।
श्लेष्माधिको यदि नरः कफजः स तु स्यात् ॥

सुषुप्ति—यह वह अवस्था है जब मनुष्य बिल्कुल चेतना हीन हो सो जाता है। उसे किसी प्रकार का कोई आभास नहीं रहता कि मैं कहां हूं। निद्रित अवस्था में चाहे वह टूटी खाट पर हो या खेत खलिहान में, मिट्टी के ढेले का तकिया लगा जाता है। निद्रा विस्तर आदि का ध्यान नहीं रखती। आज व्यस्त जीवन में रेल गाड़ियां भरी चलती हैं उनमें व्यक्ति पर व्यक्ति ठसा ठस भर जाते हैं। पर निद्रा देवी वहां भी अपना चमत्कार दिखाती है, और बैठे-बैठे खड़े-खड़े भी एक दूसरे पर पड़े नींद का आनन्द ले लेते हैं। यह एक ऐसी अवस्था है

कठिन से कठिन समय पर भी आँख मिचोनी कर देती है। यही है सुख कर निद्रा ठीक-ठीक आने पर जब मनुष्य उठता है, तो शरीर पुनः कार्य के लिए सन्नद्ध तरोताजा हो कार्य में लग जाता है। ऐसी सुखकर निद्रा का उपभोग परिश्रमी एवं अध्यवसायी व्यक्ति ही कर सकता है। अन्य नहीं।

इसके विपरीत मोटे-मोटे गद्दों पर पड़े रहने वाले, दिन भर बकरी से चरने वाले, मोटी तौंद फैलाये व्यक्ति इस सुख करी निद्रा का आनन्द नहीं ले सकते। जहां तक आयुर्वेद का सम्बन्ध है। रोगी को यदि पूर्ण सुखकर निद्रा आ जाय तो आधा रोग समाप्त समझना चाहिये। निद्रालु गोलियों का व्यवहार नितान्त हेय है। इस से हृदय पर अवसादक प्रभाव पड़ता है। तथा मानव असमय में ही काल कवलित हो इह लोक लीला...

अङ्कों द्वारा शरीर का विभाजन

चिकित्सा में निदान सर्वोपरि है। बिना निदान के चिकित्सा असम्भव है। गुरू कृपा से जैसा अध्ययन कियाहै उन्हीं के शब्दों में अङ्कों द्वारा शरीर विभाजन कर निदान क्रिया और विद्वत् समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं। यह विषय सर्व साधारण के लिए कठिन सा है। कारण इस का प्रचार न होने से यह विषय लुप्तप्राय हैं। विज्ञान वेत्ता विमर्शपूर्वक ध्यान दें।

जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है ० शून्य से ही यह संसार है। अतः इस शून्य को दो भागों में बांटा है, आधा पुरुष आधा नारी इसको ९ अङ्कों से विभाजित किया है। वामाङ्ग स्त्री दायां अङ्ग पुरुष है।

इसी को इस प्रकार व्यक्त करते हैं।

सूर्य सोमात्मकं जगत्

सूर्य, पुरुष, शुक्लपक्ष, उत्तरायण
सोम, स्त्री, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन

जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर ग्रहों के रत्नों के एवं धातुओं के स्थान बतलाये गये हैं। उसी प्रकार १५ तिथियां कृष्ण शुक्ल भेद से अपना-अपना स्थान रखती हैं वात्स्यायन ने काम शास्त्र में इनका वर्णन किया है। इसी प्रकार ये ९ अङ्क भी अपना-अपना स्थान रखते हैं। जैसा कि

कोष्ठक में बतलाया है। स्त्री का अङ्क पैरों से प्रारम्भ होता है। कारण यह प्रकृतिभूत पृथ्वी स्वरूपिणी है। पृथ्वी का पार्थिव शरीर में प्रथम स्थान है। अतः १ अङ्क से लेकर ९ अङ्क तक मुख पर पहुँचता है। मस्तक पर शून्य आता है। इसलिए इसे शून्य मस्ता की भी संज्ञा दी है। वाम मार्ग के ग्रन्थों में इसका विशेष विश्लेषण मिलता है। पुरुष का १ अङ्क मस्तक से प्रारम्भ होकर पाद का शून्य माना है। मूलाधार से लेकर सुषुम्ना काण्ड तक अश्विनी, भरणी, आदि नक्षत्र रेवती पर्यन्त है। इसीलिये रीढ़ के पोरुवे (कशेरुकायें) २७ ही होते हैं। ५ पंचमहाभूत के एवं १ अव्यक्त का मिला देने से ये ३३ संख्या रीढ़ की कशेरुकाओं की बनती है। यह हैं अङ्क विवेचन, रोगों के रोग परीक्षण के लिए अङ्क विन्यास इस प्रकार किया गया है।

१, शिर २ गला, ३ हृदय, मुख, ओष्ठ, जिह्वा ४ उरः कटि, ५ नेत्र, यकृत्, प्लीहा, आमाशय, नाशा। कान, लिङ्ग, स्कन्ध। ६ उत्तरवस्ति, गर्भाशय, क्षुद्रान्त्र, वृक्क, ७ पायु (गुदा) दान्त, वृह दन्त्र, ८ नितम्ब, ९ जंघा, १० हाथ ११ गले के अन्दर का ४।। अंगुल भाग।

मस्तिष्क, कर्णनासा, नेत्र मुख कण्ठ ये अवयव शरीर में ज्ञान परक होने से ब्राह्मण संज्ञक हैं।

हाथ, प्रकोष्ठास्थि, प्रगंडास्थि रक्षा कर्म प्राधान होने से शरीर में क्षत्रिय संज्ञक हैं। उरः से नामी पर्यन्त नाभी के नीचे का भाग संविभाग करने के कारण शरीर में वैश्य स्थानीय हैं; जघनास्थि, पिण्डी पैर, धारण करने के कारण शूद्र संज्ञक कहे जाते हैं।

इसी का उदाहरण देते हुए यजुर्वेद एवं अथर्व वेद में स्पष्ट किया है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहुः राजन्यः कृतः।
उरुः तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(यजु०, अ.३१, मं.११)

ज्योति शास्त्र के आधार पर इसे १२ भागों में विभक्त किया गया है। ये हैं १२ राशियां, इन्हीं बारह के योग से ३ संख्या वात, पित्त, कफ, का द्योतक बनती हैं। यही त्रित्व इनमें विद्यमान हैं। संक्षेप में इन्हें इस प्रकार देखिये।

१-४-७-१०-मेष, कर्क, तुल, मकर, वात;
२-५-८-११-वृष, सिंह, वृश्चिक, कुम्भ, पित्त,
३-६-९-१२-मिथुन, कन्या, धन, मीन, कफ,

इस राशि चक्र से शरीर के अङ्गों को विभाजित किया गया है। रोग ज्ञान के लिए सुकर हो सके इस आधार पर रावण कृत अर्क प्रकाश में वर्णित वर्णमाला को अङ्गों में विभाजित किया गया है। रोगी का संदेश लेकर जब दूत सामने आवे, तब ऐसा विचार करें।

स्वर संख्या ११ है रुद्र परक, हैं (चन्द्र प्रधान)

अतः सभी स्वरों के ११ स्थान बना लें इस कारण ११ स्थानों में ही सब स्वर व्यंजनादि को विभक्त किया गया है।

स्थानांक १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११,
अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ अं अः
क च ट त प य स क्ष त्र ज्ञ
ख छ ठ थ फ र श———
ग ज ड द ब ल ष———
घ झ ढ ध भ व ह———
ङ ञ ण न म————

अक्षरांक— ६ ३ २ ४ ८ ६ ४ ३ १ ७——

इस प्रकार अक्षर विन्यास के बाद जब भी कोई प्रश्नकर्ता दूत आवे उसका अक्षर विन्यास इस प्रकार कर फल कहें। सम्पूर्ण संसार के नाम इन्हीं अक्षरों में हैं। तथा सम्पूर्ण संसार त्रित्व में है, त्रित्व १२ राशिगत होने से सभी के फल इस प्रकार कहें।

जैसे—जब प्रश्नकर्ता आता है, और रोगी का नाम बतलाता है कि रोगी का नाम चारूदेव है आयु ४२ व्रर्ष है। तब इसे इस प्रकार लिखें।

चारू देव ६ योगांक
३६६२४६६ ४० आयु
८)३४(४ ३ समय
३२ ८)४९(६
२ ४८
१

अक्षराङ्कों को मिला १ जोड़ दें—

अर्थात् योग कर दें—फिर आठ का भाग दें फिर आयु समय भाज्य शेष अंक जोड़ दें फिर आठ का भाग दें, जो शेष बचे फल कहें। चारों अंकों को जोड़ देने से प्रकृति कहें।

६
१
४ अर्थात् ४ अंक प्रधान हो ने से प्रकृति
२ पित्त तथा रक्त दोष माना जायगा।

१३—४ योग

चारूदेव के कुल अंक ३३ हुए १ जोड़ देने पर ३४ हो गये। इन्हें ८ का भाग देने पर भाज्य ४ शेष २ रहा। उधर आयु ४० वर्ष समय ३ बजे ६ योगांक जोड़ देने पर ४९ बने ८ का भाग देने पर लब्धी ६ शेष १ रहा। अब देखना यह है कि शेषांक किस स्थान का है। ६ अंक छाती कमर उदर का है। १ अंक मस्तक का ४ हृदय मुख ओष्ठ जिह्वा एवं रक्त का २ हाथ और पित्त का अब यहां फल पर ध्यान कीजिये ६ अंक सर्वाधिक होने से प्रधान है और अपनी निम्न दृष्टी से १ अंक वायु एवं मस्तिष्क को देख रहा है। बड़ा होने से इसे आत्म सात् कर लेगा। २ अंक नीचे शेष है। पित्तांक होने से ऊपर ४ अंक हृदय एवं रक्त को देख रहा है। और तिर्यक् दृष्टी से १—और २ को देखने से वात पित्त प्रकृति कहनी चाहिए ६—४ दोनों सम हैं दोनों की दृष्टी टेढ़ी है। अतः यह रोगी श्वास का रोगी है। ऐसा निश्चय करें। श्वास भी पित्त प्रधान है। वायु उल्वण है। हृदय अतीव दुर्बल है। इस प्रकार इन अंकों द्वारा रोग निदान कर यश भाक् बने। यहां दिग्दर्शन मात्र कराया गया है, आगे अनुसंधान करना विद्वन्मण्डल का कार्य है। इस विधि से वर्षों से कार्य किया जा रहा है। तथा सफल है। गुरू कृपया इस का अभ्यास करना नितान्त आवश्यक है। ★

❀ रत्न ❀

रत्न भिन्न-भिन्न गुणों एवं भिन्न-भिन्न रंगों वाले पत्थर के टुकड़े हैं।

ये अपने-अपने गुण के आधार पर मूल्यवान् होते हैं।

ब्रह्माण्ड की रचना जिन सात ज्योतियों से हुई है, उनको अक्षय निधि सात मुख्य रत्न हैं। ये सातों ज्योति इन्द्र-धनुष में एक नियम के अनुसार पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। यही विश्व का मुख्य कारण है। ये ज्योतियां विश्वनायक सृष्टिकर्ता जगदीश्वर की दिव्य देह से निकलती है। जिस प्रकार प्रभु आदि अन्त हीन हैं, उसी प्रकार ये भी आदि अन्त हीन हैं। इन ज्योतियों के द्वारा ही प्रभु सृष्टि का सृजन पालन एवं संहार करते हैं। कूर्म पुराण के आधार पर नव ग्रह इन सात ज्योतियों की ही घनीभूत अवस्थायें हैं। तथा इन ग्रहों का पोषण भी इन्हीं के द्वारा होता है।

सूर्याचन्द्रमसौ यावत् किरणैरेवभासतः।
तावद्भूर्लोक आख्यातः पुराणे द्विजपुंगवः॥
यावत्प्रमाणो भूर्लोको, बिस्तरात्परि मण्डलात्।
भुवर्लोकोऽपि तावत्स्यान्मण्डलाद्भास्करस्यतु॥

कूर्म पुराण. श्लोक ३-४. अ. ४१

मानव के कल्याण एवं रोग मुक्ति के लिए इनका प्रचुर मात्रा में व्यवहार होता है। रत्नों में विशेष चमक रहती है। जिससे इन के भीतर की ज्योति प्रकाशित होती है रत्न जलादि में अपनी ज्योति का प्रक्षेप शीघ्र करते हैं।

परन्तु इनकी ज्योति का ह्रास नहीं होता। जिस प्रकार समुद्र में कितनी ही नदियां प्रवेश पाती हैं। समुद्र में बाढ़ नहीं आती, एवं उससे कितनी ही नदियां निकालिये कमी नहीं होती। उसी प्रकार विश्व ज्योति के नाते इनमें ह्रास नहीं होता अतः सिद्ध हुआ कि रत्न विश्व ज्योति का अक्षय भंडार हैं। प्रत्येक रत्न का अपना एक रंग है। जो उसकी भीतर की वास्तविक विश्व ज्योति से भिन्न दीखता है। बार-बार परीक्षा करने पर ही इनका वास्तविक मूल्यांकन होता है। कारण बाजार में नकली रत्न असली जैसे ही व्यापारी लोग बेचते हैं। इसलिए रत्नों की पूर्ण परीक्षा करके ही क्रय करना चाहिए।

रत्नों का त्रिदोष से सम्बन्ध

रत्नों का त्रिदोष से पूर्ण सम्बन्ध है। तीन विश्व शक्तियां धनात्मक ऋणात्मक एवं उदासीन रूप से कार्य करती हैं।

ब्रह्माण्ड के सभी उपादान (पदार्थ) सृजन, पालन, संहार की शक्ति संकलित करते हैं। ये शक्तियां रत्नों में विद्यमान हैं। धनात्मक शक्ति कफ ऋणात्मक, पित्त उदासीन वायु का नाम है। जो पित्त एवं कफ के साथ समान मिल कर कार्य करता है। इसी आधार पर जिन रंगों से इन्द्र धनुष के रंग बने उनमें त्रिदोष के गुण भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए—

माणिक्य—लाल है, यह उष्ण शक्ति पित्त, है जो ऋणात्मक गुण युक्त है। जिसका कार्य वियोजनात्मक हैं। मोती का नारंगी रंग है। यह कफोत्पादक है। इसका गुण धनात्मक है। संयोगात्मक शक्ति रखता है। पुखराज आसमानी रंग छोड़ता है। इसका गुण उदासीन है। वातशक्ति प्रधान है। हीरे से नीला रंग निकलता है। जो कफ उत्पन्न करता है।

नीलम—से बैंगनी रंग की किरणें निकलती हैं। यह वात शक्ति प्रधान है वात पित्त कफ यह तीनों दोष संयोग वियोग एवं जड़ता इन तीनों शक्तियों से सम्बन्धित है। ये ही तीनों शक्तियां मानव जीवन के प्रत्येक कोषाणु एवं वहिर्जगत के प्रत्येक परमाणु में विद्यमान हैं। इसे स्पष्ट रूप से कोष्ठक में देखें।

रत्न	दोष	विश्वशक्ति	रंग	ग्रह
माणिक्य	पित्त	ऋणात्मक	लाल	सूर्य
मोती	कफ	धनात्मक	नारंगी	चन्द्र
प्रवाल	पित्त	ऋणात्मक	पीला	मंगल
पन्ना	कफ	धनात्मक	हरा	बुध
पुखराज	वात	उदासीन	आसमानी	गुरू
हीरा	कफ	धनात्मक	नीला	शुक्र
नीलम	वात	उदासीन	बैंगनी	शनि

आयुर्वेद मतानुसार—

पित्तं पंगुः कफः पंगुः पंगवो मलधातवः ।
वायुना यत्रनीयन्ते, तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

पित्त, कफ, मल, धातु, ये सब लंगड़े हैं। मेघ के समान जहां वायु ले जाता है, वहां चले जाते हैं। इसी आधार पर रत्नों का प्रयोग करते समय ध्यान रखना चाहिये, कि प्रवाही रूप से वायु को देने वाले पदार्थों का प्रयोग कफपित्तोत्पादक पदार्थों के साथ करें। इनका स्पष्टी करण रसों के साथ करना चाहिये।

जैसे रंग सात हैं, रत्न सात हैं, उसी प्रकार रस ६ हैं। इन छहों का समावेश करना आवश्यक है।

रस—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, रूप से सभी पदार्थों में विद्यमान हैं। इनका प्रभाव तीनों दोषों पर पड़ता है। औषध प्रयोग में इन रसों (स्वादों) का निश्चय करना विशेष आवश्यक है। कारण विरोधी रस से विकृति होने का

भय है। अतः रत्नों के रसों का विवेचन यहां देखिये।

रत्न	रस	तत्त्व	अंश।
१. माणिक्य	कटु	आकाश	वायु।
२, मोती	कषाय	पृथ्वी	वायु।
३. प्रवाल	तिक्त	वायु	अग्नि।
४. पन्ना	इसमें छहों रस हैं। मिश्रित।		
५. पुखराज	मधुर	पृथ्वी	जल।
६. हीरा	अम्ल	पृथ्वी	अग्नि।
७. नीलम	लवण	जल	अग्नि।

इस सम्बन्ध में आयुर्वेद सिद्धान्त मधुर, अम्ल, लवण, वायु को, मधुर तिक्त, कषाय, पित्त को, कटु, तिक्त, कषाय, कफ को शान्त करते हैं। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार माणिक्य कटु होने से कफ को मोती कषाय होने से पित्त एवं कफ को प्रवाल तिक्त होने से कफ पित्त दोनों को पन्ना में छहों रस होने से तीनों (वात, पित्त, कफ) को पूर्ण रूप से शान्त करता है। पुखराज मधुर है; अतः वात पित्त को शान्त करता है।

हीरा अम्ल होने से वात शामक है। नीलम लवण होने से वात शमन करता है। अतः इस विधि से रत्नों का व्यवहार कर यशस्वी बनें।
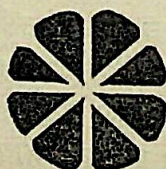
❀ माणिक्य ❀

यह रत्न सूर्य परक है, अर्थात् इसका देवता सूर्य है। जो शरीर में ब्रह्मरन्ध्र पर रहता है। यहां से अपनी लाल विश्व ज्योति द्वारा शरीर में उष्णता पहुँचाता है। अतः माणिक्य का स्वभाव गरम (उष्ण) है। इससे लाल रंग की विश्व ज्योति प्रति भासित होती है। जो रोग सर्दी एवं कफ से उत्पन्न होते हैं। उनमें यह विशेष उपकारी है। स्वभावतः लाल रंग का प्रभाव कफ कारक पदार्थों पर विशेष होता है ये ही लाल किरणें वृक्षों के पत्तों एवं काष्ठ को सुखाने का कार्य करती हैं, तथा उन्हें जलने योग्य बनाती हैं। कारण कफ कारक आर्द्रता को दूर कर देती है। लाल रंग सूर्य से सम्बन्धित हैं। सूर्य मानव शरीर में आत्मा का आदर्श है एवं अस्थि मण्डल का प्रभु है।

परीक्षण से देखा गया है, कि माणिक्य घनीभूत लाल रंग की किरणों द्वारा संसार को आलोकित करता है, एवं निम्नां-कित रोगों पर अपना विशेष प्रभाव रखता है।

माणिक्य आयुष्य, कर्ता, त्रिदोष नाशक-क्षय उदर्द, उदर शूल, रक्त विकार, विष-प्रकोप, चक्षु रोग, कोष्ठ बद्धता, जलन आदि को दूर करता है।

परीक्षा—माणिक्य को लेकर गो दुग्ध में डाल दें कुछ समय पश्चात् दूध में अपना रंग विकसित कर देगा। अर्थात्, दूध लाल रंग का प्रतीत होगा। फिर धोकर व्यवहार में लाना चाहिये। यदि इसके विपरीत दूध में विकसित न हो तो नकली

समझना चाहिए। इसकी भस्म या पिष्टी उक्त रोगों में व्यवहृत होती है।

निर्माण विधि—बेदाग साफ माणिक्य को किसी लोह कलछी में निर्धूम अग्नि पर तपावें, लाल होने पर, कुलथी के क्वाथ जो पूर्व तैयार कर लिया गया हो, में २१ बार बुझावें। इस प्रकार शुद्ध होने पर, यदि पिष्टी बनानी हो तो गुलाब अर्क में २१ दिन घोटें। पिष्टी तैयार है। इसे उक्त रोगों पर व्यवहार करें। भस्म बनानी हो तो परिशुद्ध माणिक्य को, घृत कुमारी की भावना देकर ३ कुकुट पुट की दें बाद में ३ पुटसाधारण गज पुट की दें अन्तिम पुट घृतकुमारी से भावित कर सूर्यताप में सुखा संपुट कर गजपुट दे दें। इससे स्वच्छ सुकोमल श्वेत भस्म तैयार होगी। अपनी इच्छानुकूल भस्म या पिष्टी तैयार कर व्यवहार में लें। शास्त्रानुसार पिष्टी विशेष प्रभावकारी है। जैसे—

> **रत्नानां शोधनं मुख्यं मारणं न गुणप्रदम्।**
> **भस्म ना वीर्य हानी स्यात्तस्मात्तानि विशोधयेत्॥**

रत्नों का शोधन मुख्य है, मारण गुणप्रद नहीं है। भस्म से वीर्य हानि होती है। इसलिए रत्नों का शोधन ही उपयुक्त है। केवल हीरक (हीरा) को छोड़कर सभी रत्नों पर यह बात लागू होती है। हीरक सब से कठिन तथा कठोर है, अतः इसकी भस्म ही उपादेय हैं।

मोती

यह रत्न चन्द्रमा से सम्बन्धित है, अर्थात् इसका ग्रह चन्द्रमा है जो शरीर में शीतता एवं कफ प्रदान करता है। यह रत्न समुद्र से निकली बड़ी सीपियों में पाया जाता है। फारस की खाड़ी, वसरा, श्री लंका आदि में विशेष रूप से मिलता है। भूमध्य सागर प्रान्त में प्राप्त मोती श्रेष्ठ माना जाता है। यह कई रंगों में मिलता है। श्वेताभ, पीताभ, रक्ताभ एवं काला भी होता है। जो मोती दूध के समान स्वच्छ श्वेत होता है, वह जलीय तत्त्व से पूर्ण औषधि कार्य में उपयोगी है। सुडौल आकार के मोती यदि भार में भारी हो तो विशेष मूल्यवान होते हैं। मोती स्वभाव से ठण्डा होता है, तथा पित्त शामक है। इससे नारंगी रंग की किरणें निकलती हैं। यह अपनी नारंगी रंग का किरणों द्वारा गर्मी से उत्पन्न रोगों को शान्त करता है। चन्द्र, जल, तत्व प्रधान होने से मोती भी जल तत्व के अधिकार में हैं। यदि रक्त, मांस, अस्थि आदि में उष्णता अधिक हो तो मोती का प्रयोग सुखावह है। चन्द्र मानव शरीर का आदर्श है। जैसे—सूर्य का आत्मा पर एवं चन्द्र का हृदय और रक्त प्रवाह पर अधिकार है, मन पर भी चन्द्रमा का अधिकार माना गया है।

'चन्द्रमा वै मनसो अजायत' के आधार पर पागलपन आदि मानसिक व्याधियां चन्द्र की ही वक्र दृष्टि से होती है। मोती में नारंगी रंग की विश्व ज्योति है। अतः यह नारंगी रंग का आगार है।

आयुर्वेद मतानुसार मोती ठण्डा कषाय आंखों के लिए हितकर शक्तिदाता स्त्रियों के सान्दर्य को बढ़ाने वाला आयुः प्रदाता है। क्षयरोग कृषता जीर्ण ज्वर, कास, श्वास, हृदयावसाद, रक्तचाप, अजीर्ण, जलन आदि पर विशेष लाभप्रद है।

परीक्षा—(१) मोती का रात भर गोमूत्र में रख दें, प्रातः निकालकर देखने में फटा प्रतीत हो तो नकली समझना चाहिए।

(२) मोती को तोड़ने पर यदि त्रिकोणात्मक टूटे तो असली समाकार या चूरा हो जाएगा तो नकली समझना चाहिए। असली मोती को ही चिकित्सा में प्रयुक्त करें। इसकी भस्म बनाने से जलीय अंश समाप्त हो जाएगा तथा भस्म तोल में आधी उतरेगी। अतः मोती की पिष्टी ही उपयुक्त है।

पिष्टी—मोती का चूरा कर गुलाब जल में घोटे, घुटते-घुटते जब १ तोला के हिसाब से गुलाब जल ५० तोला समाप्त हो जाय तब पिष्टी उत्तम बनी समझना चाहिए। घुटाई अविरल करने से विशेष लाभप्रद होती है।

प्रवाल

मंगल ग्रह से सम्बन्धित समुद्र तल में कंकाल रूप कई रंगों में निर्मित कठिन पदार्थ प्रवाल है। इसे विद्रुम मणि भी कहते हैं। यह कई रंग का पाया जाता है। गाढ़ा लाल, हल्का लाल, श्वेत एवं धूसर वर्ण का। औषध प्रयोग में हल्के लाल रंग का प्रवाल उपयोगी है, परीक्षा करने पर इसमें पीत आभा प्रतीत होती है, जो विश्व ज्योति का पीला रंग बनाती है।

इससे गरम किरणें निकलती हैं। इसका ग्रह मंगल है जो मानव शरीर में यकृत (लीवर) पर अपना पूर्ण प्रभाव रखता है। ज्योतिषी लोग रक्त विकार में मंगल का दान बतलाया करते हैं। वातादि रोगों में इसका उपयोग प्रदाह दर्द आदि को दूर करने में करते हैं। मज्जा तन्तुओं पर इसका पूर्ण अधिकार है। अतः यह रंग मज्जा तन्तुओं को पूर्ण करता है। दुर्बल मज्जा अस्थिर होती है। इसकी अधोदृष्टि और ऊर्ध्व दृष्टि से जननेन्द्रिय और मस्तिष्क प्रभावित होते हैं। इसके विकार में प्रायः पुरुष निःसन्तान होते हैं। इस विकृति को दूर करने के लिए प्रवाल का प्रयोग सद्य लाभप्रद है।

आयुर्वेद मतानुसार प्रवाल, कफ, पित्तज रोगों को दूर करता है। सौन्दर्य वर्द्धक हैं। कृषता वाल आस्थिमार्दव कुष्ठ कास अग्निमाद्य अजीर्ण, कोष्ठवद्धता, ज्वर विष क्रिया उन्माद यकृद्विकार मधुमेह, अर्श खुजली, रक्तविकार आदि को पूर्णतया नष्ट करता है। इसकी भी भस्म की अपेक्षा पिष्टी ही उत्तम मानी है। गुलाब जल में घोटकर पिष्टी बनाते हैं। इसकी शाखाओं की पिष्टी उत्तम होती है। इसकी जड़ छत्तों के समान छिद्रों वाली होती है जो न्यून गुण वाली है। उसकी भस्म ही उपयुक्त है। पिष्टी के लिए शाखा का प्रयोग ही हितावह है। भस्म घृत कुमारी में घोटकर २ पुट देने से ही उत्तम श्वेत भस्म बन जाती है। ❀

पन्ना

पन्ना बहुमूल्य जाति का रत्न है। इसका रंग सुन्दर मख-मली हरा होता है। संस्कृत में इसे मरकत मणि के नाम से पुकारते हैं। गाढ़ा हरा हल्का हरा भी होता है। स्वच्छ दाग रहित प्रभावान् उच्च श्रेणी का माना जाता है। इसका ग्रह बुध है। जो शरीर में बुद्धि का अधिष्ठाता है। मस्तक के उपरि भाग पर इसका स्थान है। हरा रंग आंखों को प्रफुल्लित करने वाला एवं स्वास्थ्यवर्द्धक है। विश्व को हरा रंग देने का अधि-कार पन्ना का है। पृथ्वी तत्त्व प्रधान यह रत्न, हृदय की व्याधि रक्तचाप, घाव, कैन्सर (कर्कटार्बुद) शिरोवेदना, स्नायुशूल, वात श्लेष्म ज्वर, उपदंश, विसर्प श्वास चर्मरोग नाशक है। आयुर्वेद मतानुसार—मेदवर्धक, क्षुधावर्धक, अम्लपित्त एवं जलन को दूर करता है। मन्द ज्वर वमनेच्छा अजीर्ण, अर्श, पाण्डु, घाव, एवं सूजन को ठीक करता है।

परीक्षा—असली पन्ना हल्का आंखों को प्रिय लगने वाला कुछ देर देखने से आंखों में ठण्डक पहुँचाता है। इसके विपरीत नकली आंखों में गर्मी पैदा करता है। जलन होने लगती है। इसकी पिष्टी कुलथी के क्वाथ में २१ वुफाव देकर फिर पीसकर गुलाब अर्क या अर्कवेद मुष्क में करनी चाहिए। यह हृदय के लिए विशेष पौष्टिक है।

❀ पुखराज ❀

संस्कृत में इसे पुष्पराग कहते हैं। पुखराज स्फटिक मणि चन्द्रमणि एक ही जाति के पत्थर हैं। इनमें रंगों का विशेष अन्तर होता है। पीला हल्का, पीला कांच के समान श्वेत दूध जैसा इसमें विशेष स्वच्छता रहती है। ध्यान से देखने पर इस में आसमानी रंग की किरणें प्रतिभासित होती हैं। इसका ग्रह सब विद्याओं का अधिपति वृहस्पति है। इसका मुख्य स्थान ललाट प्रदेश है। जिसमें आकाशीय तरंगें उठती रहती हैं। इन तरंगों का प्रभाव विशेषतया मेदचक्र पर पड़ता है।

आसमानी रंग आकाश तत्त्व से सम्बन्धित है। अतः स्थावर जंगम सृष्टि में जीवनीय शक्ति का संचार इसी चक्र द्वारा किया जाता है।

शरीर के सभी शून्य स्थान वृहस्पति के आसमानी रंग से प्रभावित हैं। शरीर के शून्य स्थानों से शब्द प्रतिभासित होता है जो आकाश का गुण है। इसी में जीवनीय शक्ति (विष्णुपदामृत) (आक्सीजन) रहती है। आसमानी किरणें शरीर के मेदचक्र और ग्रन्थियों को पुष्ट करती है। आयुर्वेद मतानुसार पुखराज भस्म या पिष्टी विष दोष एवं विषाक्त कीटाणुओं की क्रिया को नष्ट करती है। वमन को रोकती है। अग्निमांद्य, अजीर्ण, कुष्ठ, अर्श में हितकारक हैं। दीर्घ काल तक सेवन करने से मनुष्य मेधावी एवं बुद्धिमान बनता है। इसकी भी पिष्टी पन्ना की तरह ही बनानी चाहिए।

—०—

※वज्र-हीरक (हीरा)※

रत्नों में सबसे मूल्यवान एवं संसार की सब वस्तुओं में कठिन वस्तु हीरा ही है। इसे संस्कृत में वज्रमणि कहते हैं, यह कई आकार-प्रकार का पाया जाता है। बड़े आकार के हीरे को यदि पानी में डालकर सूर्य की धूप में रख दें तो उसमें से भिन्न प्रकार की ज्योति निकलती है। इन रंगों के आधार पर ही इस का मूल्यांकन आंका जाता है। प्राय: नकली हीरा बाजार में अधिक मिलता है। उसमें प्रभेद करने के लिए विशेष योग्यता की आवश्यकता है। एक साधारण उपाय इसकी परीक्षा का इस प्रकार है। हल्के गरम दूध में इसे गरम करके रखा जाय तो तुरन्त ठण्डा हो जाता है। इसकी दूसरी जाति भी है जिसे कमल हीरा कहते हैं। हीरे के अभाव में वैक्रान्त भस्म का प्रयोग किया जाता है। हीरा नीली विश्व ज्योति का घनीभूत रूप है। मानव शरीर में नीले रंग का प्रभाव लसिका रस, गाढ़ा कफ, गाढ़ा रस, पीव अन्य चिपकने वाले रस और शुक्र में मिलता है। इसका ग्रह शुक्र है। जिसका स्थान सर्व शरीर गत होते हुए भी शुक्राशय है। शुक्र शरीर का राजा है। यही संजीवनी विद्या है। जिसके पास इसकी निधी है, वह कभी रुग्ण नहीं होता। जो इसे व्यर्थ गंवा बैठना है उसके पास पछताने के सिवाय कुछ नहीं। शुक्र के अधिकार में रहने वाला यह नीला रंग जलतत्त्व के अधीन है। दोनों की प्रकृति ठण्डी है।

आयुर्वेद मतानुसार हीरक में छहों रस हैं। कारण कि शरीर का अन्तिम धातु ओज है। सभी धातुओं का परिपाक होते-होते अन्तिम रूप इसे प्राप्त होता है। अतः सन्निपातज रोगों में हीरे का उपयोग हितावह है।

नेत्र विकार, मुख पक्षाघात, फुफुस विकार, वातनलिका प्रदाह कुक्कुर कास, श्वास, क्षय रोग, अग्निमांद्य प्रलाप उन्माद आदि रोगों पर पूर्ण प्रभाव दर्शाता है। कुष्ठ, जलोदर मेदवृद्धि मधुमेह भगन्दर कैन्सर आदि को नष्ट करने में अमृत तुल्य है।

परीक्षा—हीरक की परीक्षा का सरल उपाय स्वानुभव के आधार पर इस प्रकार है। हीरक को हथेली पर लें या अभ्रक पत्र पर रख मुख की वाष्प छोड़ें, यदि असली है तो वाष्प का कोई असर न होगा। यदि नकली है तो उस पर कुहरा सा जम जाएगा तथा मैला प्रतीत होगा।

बार-बार अनुभव किया गया है। दूसरा उपाय हीरक के ऊपर मलमल का कपड़ा बांधें, उस पर जलता हुआ कोयला रख दें, कपड़ा नहीं जलेगा यदि नकली है तो कपड़ा जल जायगा। परीक्षित है।

भस्म निर्माण विधि—और रत्नों की पिष्टी दी जा सकती है पर हीरक की भस्म ही देनी चाहिए हीरक यदि कच्चा दिया जायगा तो अन्तड़ियों में जाकर भेदन क्रिया कर प्राणघातक हो सकता है अतः हीरक को पूर्णतया भस्म करके ही व्यवहार में लेना चाहिए—

विधि—मेंढक या अश्व के मूत्र को लें किसी तामचीनी या चीनी मिट्टी के बर्तन में रखें फिर दो बड़े अभ्रक के पत्र लें उनके बीच में हीरक को खड़ को रखें, तीव्र कोयले की अग्नि पर तपावें, लाल होने पर मूत्र में बुझा दें इस प्रकार कम से कम २१ बार करें हीरक नरम हो जायगा यदि बुझाव अधिक

दे सकें तो और भी उत्तम रहेगा। ५ बार बुझाव देने पर मूत्र बदल देना चाहिए। उसके बाद मजबूत न घिसने वाली खरल में डाल अर्क वेदमुष्क या गुलाब जल से घोट, टिकिया बना गजपुट में फूक दें। कुलथी के क्वाथ की भावना देकर फिर गज-पुट में फूक दें इस प्रकार १०० बार फूकने पर हीरक की उत्तम भस्म बनती है। मात्रा १ रत्ती का १००वां हिस्सा रोगानुसार औषधि में मिला दें सद्य लाभकारी है। बार-बार का परीक्षित है।

स्वर्ण, अभ्र, मुक्तापिष्टी २-२ मासा हीरक १ रत्ति मिला १-१ रत्ति की मात्रा बना कैन्सर के रोगी को देने से सद्य लाभ होता है।

> आयुः प्रदं झटिन्ति सद्‌गुणदं च वृष्यं,
> दोषत्रय प्रशमनं सकलामयघ्नम्।
> सूतेन्द्रबंध बध सत् गुण कृत् प्रदीप्तं,
> मृत्युञ्जयं तदमृतोपम मेव वज्रम्।

हीरक आयु को बढ़ाता है तत्काल लाभकारी है। वृष्य तीनों दोषों का शामक तथा सम्पूर्ण रोगनाशक है। पारद को बांधता है, अग्नि प्रदीपक है मृत्यु को जीतता है।

×□×

❀नीलम❀

नीलम सूर्यपुत्र पराक्रमशाली, शनि का रत्न है। यह कई प्रकार का मिलता है निर्दोष खात रहित नीलम ही लेना चाहिए। इसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर पर पड़ता है, प्रधान स्थान इसका कामाद्रि होते हुए भी सम्पूर्ण त्वचा मण्डल, स्नायु मण्डल इससे व्याप्त है। इसका अपना स्वाभाविक रंग बैंगनी है जो इन्द्रधनुष में बैंगनी रंग की आभा को बढ़ाता है। इसका सम्बन्ध वायुतत्त्व से है। मनुष्य की त्वचा का रंग बैंगनी है। अतः नीलम अपने बैंगनी रग से त्वचा को पुष्ट करता है और चर्म-रोगों को नष्ट करता है। संस्कृत में इसे इन्द्र नीलमणि भी कहते हैं।

परीक्षा—बेदाग नीलम लेकर दूध में डाल दें कुछ देर बाद दूध बैंगनी रंग का दीखने लगेगा। इसके विपरीत नकली कोई रंग न दे सकेगा। नीलम का प्रभाव सन्धिवात, उदरशूल, स्नाय-विक, दर्द भ्रान्ति मृगी भूतावेश, गुल्मवात, बेहोशी तन्द्रा, मान-सिक विकार, बुद्धिमांद्य आदि रोगों पर विशेष रूप से है। अर्थात् इसके प्रयोग से उक्त रोग शान्त हो जाते हैं।

भस्म विधि—साफ नीलम की खड़ को लेकर कुलथी के क्वाथ में २१ बार बुझाधे। तदनन्तर अर्क गुलाब से भावना देकर गजपुट में भस्म करें। केवल ३ पुट में भस्म हो जायगी। बाद में अर्क गुलाब से भावित कर पिष्टी बना लें। इसके प्रयोग से उक्तरोग निर्मूल हो जाते हैं।

❀राजावर्त-गोमेद❀

यह दोनों रत्न युगल स्वरूप राहु-केतु के रत्न हैं। इनका प्रभाव दोनों पैरों पर जन्घा से लेकर पैरों तक है। रक्त दोष एवं त्वचा मण्डल पर इनका विशेष असर है। इनकी पिष्टी भी पन्ना की पिष्टी के समान बनानी चाहिए तथा—

प्रमेह क्षय दुर्नाम पाण्डु श्लेष्मानिलापहः।
दीपनः पाचनः वृष्यो राजावर्तो रसायनः॥

राजावर्त-शीतल गुरु दीपम पाचन वृष्य और रसायन हैं। इसलिए यह पिष्टी पित्त प्रकोप अतिसार अर्श क्षय पाण्डु कफ दोष वात विकार पित्तज प्रमेह आदि रोगों को दूर करती है।

गोमेद

गोमेदं कफ पित्तघ्नं क्षय पाण्डु क्षयं करम्।
रुच्यं दीपनं पाचनं रुच्यं बुद्धि प्रबोधनम्॥

(र०र०स०)

गोमेद मणि कफ पित्तघ्न क्षय और पाण्डु रोग का नाशक दीपन पाचन रुचिकर त्वचा पौष्टिक मुख मण्डल पर तेजी लाने वाली और बुद्धिवर्धक है। यह बल्य वीर्यवर्धक, आयुवर्धक और राहु ग्रह की पीड़ा शामक है।

इसकी पिष्टी माणिक्य एवं पन्ना की विधि से बनावें अपस्मार-मस्तिष्क की उग्रता बढ़ने पर यह विशेष अनुभूत औषधि है।

इन नौ के अतिरिक्त अनेक मूल्यवान पत्थर (रत्न) मिलते है उनका भी प्रयोग आवश्यकतानुसार गुण कम विपाक के आधार पर करना चाहिए।

❀

नाड़ी

नाड़ी के विषय में हृदय प्रकरण में वतलाया जा चुका है कि नार शब्द जलीय अंश का बोधक है, उसी आधार पर जलीय अंश प्रधान होने से रक्त वहन करने वाली शिराओं का नाड़ी शब्द से व्यवहार होता है। विश्व में जितनी भी रोग परीक्षा विधियां हैं, उनमें भारतीय नाड़ी परीक्षा प्राचीन है। इसकी गणना धमनी नाम से भी की गई है। इसके पर्यायवाची अनेक शब्द हैं।

यथा—स्नायु नाड़ी वसा हिस्रा धमनी धामिनी धरा।
तन्तुकी जीवितज्ञा च शिरा पर्याय वाचिका॥

स्नायु, नाड़ी, वसा, हिंस्रा, धमनी, धामिनी, धरा, तन्तुकी, जीवितज्ञा, शिरा ये नाड़ी के पर्यायवाचिक शब्द है। अर्थात् शास्त्रकारों ने नाड़ी को इतने नामों से व्यवहृत किया है।

आयुर्वेद में इसे मुख्य नाम जीवितज्ञा अर्थात् जीव साक्षिणी दिया है। यही जीवन के सुख-दुःख को पूर्णतया प्रकट करती है। आयुर्वेद के इस वैज्ञानिक सत्य को हर चिकित्सा विज्ञान स्वीकार करता है। आयुर्वेदज्ञ मनीषियों ने रोग परीक्षा के इस मुख्य तथ्य को सृष्टि के आदितः आविष्कृत किया था।

दोषों का कुपित होना ही रोगों का मूल कारण है। ये दोष, (वात, पित्त, कफ) शरीर में भ्रमणशील रक्त में ही नहीं सभी धातुओं में तथा उनसे पुष्टि प्राप्त अन्य अङ्ग उपाङ्गों में भी विद्यमान हैं। शरीर में जीवनदायी रक्त में प्रधानतया तीन गुण पाये जाते हैं। गति, उष्मा, स्नेहन जिस तत्त्व से रक्त को तथा सम्पूर्ण स्नायु मण्डल को गति मिलती है, उसे वायु कहा

है। जिस तत्त्व से उष्मा मिलती है तथा जिससे सम्पूर्ण शरीर उष्ण बना रहता है। उसे पित्त कहते हैं। इसी प्रकार जिस तत्त्व से शरीर को स्नेहन (चिकनाई) मिलती है, उस शक्ति का नाम कफ है। इन तीनों धातु या दोष का वर्णन पूर्व किया जा चुका है तथा मनीषियों ने इनका वर्णन् हस्तामलक वत् शास्त्रों में किया है। इसी से आयुर्वेद की नाड़ी परीक्षा का मूल आधार त्रिदोष है। इन्हीं की प्रकृति विकृति के ज्ञान के लिए ही नाड़ी ज्ञान का आविष्कार ऋषियों ने किया।

रोगों का मुख्य कारण **'विविधाऽहित-सेवनम्'** नाना प्रकार के अहित सेवन हैं अर्थात् जब प्रकृति विरुद्ध आहार, विहार में मिथ्या हीन अतियोग होते हैं। तब रक्त को आश्रय कर वात, पित्त, कफ दोष बन जाते हैं। इनकी विषमावस्था ही दोषों का कुपित होना कहलाता है। दोषों की विषमता प्रथम रक्त में होती है। रक्त का शोधन संचालन हृदय द्वारा होता है। अतः दोष विकृति का प्रभाव हृदय पर पड़ता है। इसी प्रकार प्रसन्नता, काम, क्रोध, शोक, दुःख आदि का दूषित भाव मन पर पड़ता है और मन हृदय से सम्बन्धित है। इसलिए हृदय को सद्यः प्रभावित करता है। यहीं कारण है कि मन में जब भी तमोगुणी या रजोगुणी भाव आते हैं, हृदय की गति बदल जाती है। बराबर मानसिक अवस्था बिगड़ने पर हृदय की गति भी बिगड़ जाती है। यही कारण है कि उस समय मानसिक रोग घर कर बैठते हैं। नाडी परीक्षा से मानसिक रोगों का ज्ञान सद्यः हो जाता है। इसी आधार पर रोग ज्ञान के दो स्तम्भ माने हैं। शरीर और मन। शरीर और मन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। शरीर रुग्ण होने पर मन स्वतः रोगी हो जाता है

तथा मन रुग्ण होने से शरीर और इन दोनों का रुग्ण होना हृदय को आघातित करता है। जिससे हृदय की गति विकृत अस्वाभाविक हो जाती है। इस गति को देख स्पष्टतया बतलाया जा सकता है कि किस दोष में अन्तर आया है। यह ज्ञान नाडी परीक्षा से सुलभ है। कारण रक्त बहा धमनी हृदयाश्रित रक्त को वहन कर रही है और हृदय अपने ऊहापोह में लगा है तब रक्त की गति स्वाभाविकतया विकृत होगी ही। धमनी स्पन्दन स्पर्श द्वारा अंगुष्ठ के अग्र भाग में जहां नाड़ी स्पष्टतया प्रतीत होती है। सुलभ तया ज्ञान किया जा सकता है। यहां यह भी स्मरणीय है कि गुरुदेव द्वारा दूत नाड़ी का विज्ञान भी इसी आधार पर है। जब रोगी की ओर से उसका सन्देश वाहक आता है तो उसके मन में रोगी के भाव चिह्नित रहते हैं। उसे रोगी के रोग का पूर्ण ज्ञान है या उसकी पूर्ण गाथा को वह जानता है। जब उससे कहा जायगा कि रोगी का ध्यान करो तब रोगी का ध्यान करते ही मन पर रोगी का आकार प्रकार व्याधि सब दूत के हृदयाश्रित हुए वहां चंचल गति मन वार-बार उसकी स्थिति को देख रहा है। अतः दूत की नाड़ी रोगी की नाड़ी वन जाएगी और नाड़ी ज्ञाता वैद्य पूर्णरूप से रोगी के हाल को यथातथा वतला देगा। श्री पं० सत्यदेव जी वाशिष्ठ नाड़ीतत्त्व दर्शन प्रणेता, इसका मुख्य उदाहरण है। जिन्होंने अपने ज्ञान को विद्वन्मण्डल में प्रसारित किया है।

करस्यांगुष्ठ मूले या धमनी जीव साक्षिणी।
तच्चेष्टया सुखं-दुःखं ज्ञेयं कायस्य पंडितैः॥

अर्थात्—हाथ के अंगुष्ठ मूल में जो जीव साक्षी नाड़ी है, उसकी चेष्टा से पंडितजन शरीर के सुख-दुःख का ज्ञान प्राप्त करें।

इस आधार पर नाड़ी परीक्षा द्वारा रोग ज्ञान की पृष्ठभूमि धमनी का ज्ञान गुरु परम्परा से तथा पूर्ण अभ्यास से प्राप्त होता है।

पाश्चात्य विद्या विशारद डाक्टर लोग भी नाड़ी को देखते हैं पर वहां केवल स्पन्दन मात्र का ज्ञान ही उन्हें है। किस तरंग में नाड़ी गति चल रही है। यह ज्ञान तो गुरु गम्य ही है।

यथा—शास्त्रेण सम्प्रदायेन तथा स्वानुभवेन च।
परीक्षा रत्न वच्चास्यास्त्वभ्यासादेवजायते॥

शास्त्र से, सम्प्रदाय से तथा अपने अनुभव से, रत्नों के समान परीक्षा करें। यह सब अभ्यास गम्य है।

आदौ निदान विधिना विदध्याद्व्याधि निश्चयम्।

प्रथम निदान की विधि से व्याधि का निश्चय करके ही चिकित्सा प्रारम्भ करें।

उपयोग—नाड़ी ज्ञान का उपयोग व्याधि निश्चय के लिए है। जो कि चिकित्सा का प्रथम पाद हैं। इस ज्ञान के बिना चिकित्सा प्रारम्भ ही नहीं हो सकती।

अतः शारीरिक सम्पूर्ण क्रिया में सब क्रिया नाड़ी परीक्षा से ही सम्भव है, नाड़ी परीक्षा के साथ चिकित्सोपयोगी रोगी के लक्षणों का भी पूर्ण अध्ययन करें। कारण की रोग के लक्षणों का संकेत चिकित्सा सौन्दर्य के लिए है। नाड़ी की गति से भय, शोक, दुःख, सुख, क्रोध आदि मनोदशाओं की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से हो जाती है।

स्त्री-पुरुष नाड़ी—

पुँसो दक्षिण हस्तस्य स्त्रियो बाम करस्यतु।
अंगुष्ठ मूलगां नाड़ीं परीक्षेत भिषग्वरः॥

पुरुष की नाड़ी दक्षिण हाथ के अंगुष्ठ मूल में तथा स्त्री की नाड़ी वाम हस्त के अंगुष्ठ के मूल में देखनी चाहिए।

यहां यह विचारणीय प्रश्न है कि स्त्री-पुरुष में वाम और दक्षिण का भेद क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर आयुर्वेद में ही है। पाश्चात्य इसे स्वीकार नहीं करते। आयुर्वेदज्ञ ही इसका पूर्ण वैज्ञानिक रूप से स्पष्टीकरण कर सकता है। जिसे आधुनिक विज्ञान समझने में असमर्थ रहा है। मनीषियों ने इस तथ्य को अपने सूक्ष्म दिव्यदर्शन.से तथा अनुभव से इस प्रकार उल्लिखित किया है। पुरुय का दक्षिण भाग उसके वामांग से तथा स्त्री का वाम भाग उसके दक्षिण भाग से बलशाली होता है। आयुर्वेद का यह तथ्य संसार के किसी कौने में भी देखा जाय निश्चय रूप से सत्य सिद्ध होगा।

इसका प्रतिदिन के अभ्यास में निश्चय होता रहता है। अर्थात् पुरुष की वाम नाड़ी से दक्षिण नाड़ी तथा स्त्री की दक्षिण नाड़ी से वाम नाड़ी अधिक बलवती होती है। शास्त्रों में (वामा) नाम यथार्थ में ही दिया है। कारण यह पुरुष के वामाङ्गी होने से अथवा प्रकृति स्वरूप होने से टेढ़ी रहने से अत: इसकी सभी चेष्टायें टेढ़ापन लिए होने से, इसे वामा कहा है। अत: शास्त्राज्ञानुसार स्त्री की वाम नाड़ी तथा पुरुष की दक्षिण नाड़ी देखनी चाहिए।

नाड़ी देखने का प्रकार

अंगुलीभिस्तु तिसृभिर्नाड़ीरवहितः स्पृशेत्।
तच्चेष्टया सुखं-दुःखं जानीयात्कुशलोऽखिलम्॥

सावधान तथा तीन अंगुलियों में नाड़ी का स्पर्श करे। इसकी चेष्टा से सम्पूर्ण सुख-दुःखादि का परिज्ञान करें। अर्थात् रोगी

के हाथ को शान्त स्थिर भाव से अगुष्ठमूल में तर्जनी मध्यमा अनामिका इन तीनों अंगुलियों को नाड़ी पर इस प्रकार रखे जिससे नाड़ी दबने भी न पाये तथा स्पर्श ज्ञान भी पूर्ण हो इतना दवाव रखें। रोगी का हाथ किसी वस्तु से दबा या खिंचा न हो। स्वाभाविक रूप से ढीला रहे यदि स्थिति प्रकृत न होगी तो नाड़ी ज्ञान सुकर न हो सकेगा।

इनकी नाड़ी न देखें—

सद्यः स्नातस्य सुप्तस्य क्षुतृष्णातपशीलिनः।
व्यायाम श्रान्तदेहस्य सम्यक् नाड़ी न बुध्यते॥

जिसने अभी स्नान किया है, सोया हुआ है, भूख-प्यास से व्याकुल, धूप से तपा हुआ, व्यायाम से थका हुआ। ऐसे व्यक्तियों की नाड़ी का अवबोध नहीं हो सकता। कारण रक्त संचालन क्रिया में अन्तर होने से इन क्रियाओं से हृदय पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है हृदयगति बढ़ जाती है। इसके शमन होने पर प्रकृत रूप में होने पर ही नाड़ी परीक्षा करनी चाहिए।

समय—यों तो नाड़ी हर समय चलती ही है। पर प्रातः-काल बिना कुछ खाए देखना उपयुक्त है। कारण प्रातः का समय शुद्ध एवं शरीर के लिए पोषक तथा रक्त-संचार नियमित होने से यह समय ही नाड़ी ज्ञान में उपयुक्त है।

अपवाद स्वरूप तो हर समय रोगी की अवस्था के अनुकूल देखना ही पड़ता है। रोगी के कष्ट को दूर करने के लिए समय का व्यत्यय करना ही पड़ता है।

दोष ज्ञान—यहां एक बात और स्पष्ट कर देना उपयुक्त समझते हैं। हमारी गुरु परम्परा में ३ अंगुलियों के स्थान पर चार अंगुलियों का भी विधान है। यूनानी में रक्त को भी दोष

माना है। अतः वात, पित्त, कफ, रक्त इस प्रकार चार होने से चारों अंगुलियों से देखने पर और भी विशिष्टता होती है। हम नित्य के व्यवहार में इसका निरन्तर प्रयोग करते हैं। कोई कोई वैद्य या डाक्टर केवल दो अंगुलियों का ही स्पर्श कराते हैं। वहां स्पन्दन मात्र का ही ज्ञान है। नाड़ी देखना वहां नाटक मात्र है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन चारों दोषों का निराकरण कर वैद्य यशोपार्जन करें। वैसे आयुर्वेद में तिसृभिः शब्द से तीन अंगुलियों का विधान है।

वाताधिका, भवेन्नाड़ी, प्रव्यक्ता, तर्जनी तले—वाताधिक्य में नाड़ी तर्जनी अंगुली के नीचे प्रस्फुटित होती है।

पित्तेव्यक्ता मध्यमायां—पित्ताधिक्य में नाड़ी मध्यमा अंगुली के नीचे प्रतीत होती है।

अनामिकांगुलिका कफे—कफ की प्रधानता में अनामिका के नीचे नाड़ी का प्रस्फुरण होगा।

उपरिवर्णित वात, पित्त, कफ का वैज्ञानिक तथ्य इस प्रकार अनुभव में आता है। नाड़ी रक्त के आधार पर चलती है यह एक तरल पदार्थ है। इसका वेग वात प्रधान होने से अग्र भाग में प्रतीत होता है तथा उष्मा (गरमी) का उबाल बीच में होता है एवं कफ, भारी गाढ़ा पदार्थ नीचे मन्दगति से बहता है। अतः वायु वेगवान तत्त्व होने से अग्रभाग में, पित्त उष्णता प्रधान होने से मध्य भाग में, कफ भारी एवं गाढ़ा पदार्थ है। उसका वेग रक्त प्रवाह में मन्द-मन्द प्रतीत होता है। नाड़ी पर तीनों अंगु-लियों को एक साथ रखकर देखने पर रक्तप्रवाह तर्जनी के नीचे वेगवान मध्यमा के नीचे उछलता हुआ तथा अनामिका के नीचे मन्द प्रतीत होगा।

द्वि दोषज तथा त्रिदोष की नाड़ी—१—जब नाड़ी की गति का स्पर्श तर्जनी तथा मध्यमा के नीचे हो तो वात पित्ताधिक्य मानना चाहिए।

२—मध्यमा और अनामिका के नीचे जब नाड़ी का स्पर्श हो तो पित्त, कफाधिक्य समझना चाहिए।

३—जब तीनों अंगुलियों के नीचे नाड़ी की गति व्यक्त हो तो त्रिदोषज मानना चाहिए।

दोषानुसार नाड़ी—

वात का स्वभाव टेढ़ा है अतः वात की नाड़ी भी टेढ़ी चलती है और इसकी गति सर्प एवं जोक (जलौका) के समान टेढ़ी चलती है। इस अभिप्राय से यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्प जब चलता है तो अपने शरीर को टेढ़ा करके चलता है यह उसका स्वभाव है, इसी प्रकार वात का स्वभाव भी टेढ़ा होने से इसकी गति भी टेढ़ी ही होती है। अर्थात् तर्जनी अंगुली के नीचे दाएं-बाएं मोड़ खाते हुए नाड़ी का स्पर्श होगा।

पित्त की नाड़ी—

पित्त की नाड़ी काक मंडूक (मेंढक) के समान चलती है। अर्थात् जिस प्रकार काक एवं मेंढक उछलकर चलता है। उसी प्रकार नाड़ी की गति उछलती हुई प्रतीत होती है।

कफ की नाड़ी—

कफ प्रकोप में नाड़ी की गति हंस तथा पारावत के समान मानी है। हंस शान्त तथा मन्दगति से चलता है। उसी आधार पर कफ प्रकोप में नाड़ी की गति मन्दगामिनी होती है।

सन्निपातज नाड़ी—

सन्निपात में नाड़ी की गति अस्वाभाविक रूप से शीघ्र चलने वाली होती है। कभी मन्द तथा कभी वेगवती होती है। नाड़ी स्पन्दन स्थिर नहीं होता एक क्षण में मन्द दूसरे क्षण ही वेग वाला होता है।

मृत्यु सूचक नाड़ी—

हंति च स्थान विच्युता

त्रिदोष में नाड़ी की गति यदि अंगुष्ठ मूल से ऊपर की ओर हो तथा नीचे कुहनी की ओर हटती हुई लोप हो जाय तब उसे स्थान विच्युता कहते हैं। ऐसी नाड़ी यदि हो तो निश्चय ही रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अन्यच्च—मन्दं मंदं शिथिल शिथिलं, व्याकुलं व्याकुलं वा।
स्थित्वा स्थित्वा बहति धमनी, याति नाशं च सूक्ष्मा॥
नित्यं स्थानात्स्खलति पुनरप्यंगुलिं, संस्पृशेद्वा।
भावैरेवं बहुविध विधैः, सन्निपातादसाध्या॥

सन्निपात में धीरे-धीरे, शिथिल-शिथिल भयभीत जैसी अस्त-व्यस्त स्थिति वाली ठहर-ठहर कर चलने वाली, अति सूक्ष्म, गति वाली, लुप्त प्राय बार-बार स्थान को छोड़े, इस प्रकार अनेक भावों वाली नाड़ी सन्निपात में असाध्य मानी है अर्थात् इस प्रकार की नाड़ी वाला रोगी निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रकार नाड़ी विज्ञान के आचार्यों ने पूर्णरूप से विचार विनिमय कर जीवन साक्षी नाड़ी का वर्णन किया है। इस विषय में विद्वानों ने अपने अभिमत दिए हैं। यह हमने गुरु परम्परा के आधार पर स्पष्ट किया है।

जब नाड़ी की गति ४-५ बार चलकर बीच में एक क्षण के लिए बन्द हो जाय और फिर चलने लगे तो समझना चाहिए कि रोगी मरणासन्न है। इसके विपरीत यदि रोगी चलता-फिरता है भूख ठीक है तब यदि ऐसी नाड़ी चले तो हृदयाश्रित दोष या स्नायु सम्बन्धि दाष कहना चाहिए।

काम, वेग या क्रोध में नाड़ी हृदय के उत्तेजित होने से वेगवती हो जाती है। इसके विपरीत चिन्ता में मन्दगति एवं सूत्रवत् देखी गई है।

मन्दाग्नेः क्षीण धातोश्च नाड़ी मन्दतरा भवेत्।

प्रमेह एवं मन्दाग्नि की नाड़ी मन्दतर होती है।

भूख से पीड़ित की नाड़ी चंचल तथा भोजन किए हुए की स्थिर होती है। सुखी व्यक्ति की नाड़ी स्थिर तथा बलवती होती है।

यहां यह विचारणीय है कि तर्जनी अंगुली की नाड़ी जब तक क्षीण नहीं होती है, मरणासन्न व्यक्ति भी जीवन धारण करता है। ऐसा अनेक बार के अनुभव में आया है।

नाड़ी ज्ञान दुरुह है, गुरु कृपा लाभकर ही इस विद्या में पूर्णता पाई जा सकती है।

❀ मूत्र परीक्षा ❀

शरीर में मूत्र भी एक मल है। इसे देखकर भी आचार्यों ने निदान विधी आविष्कृत की है। इसको रक्त से पृथक् कर बृक्क मूत्र प्रणालियों द्वारा मूत्राशय में भेजते हैं। वहां एकत्र हो यह मूत्र मार्ग द्वारा शरीर से बाहर हो जाता है।

परीक्षा—इसकी परीक्षा पांच प्रकार से की जाती है। १. भौतिक, २. रासायनिक, ३. अणुवीक्षण, ४. कीटाणविक, ५. तैलविन्दु प्रक्षेप।

१. भौतिक—यह परीक्षा प्रत्यक्ष नेत्रों द्वारा एवं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा की जाती है।

२. रासायनिक—इसमें अन्य पदार्थ डालकर इसके रूप, रंग से रासायनिक क्रिया का बोध किया जाता है।

३. अणुवीक्षण—यह क्रिया कांच-पट्टी पर मूत्र विन्दु डालकर यन्त्र द्वारा की जाती है।

४ कीटाणविक—इसमें क्षय कीट, उपदंशज कीट, उष्णवात कीट आदि का अनुभव होता है।

५. तैलबिन्दु प्रक्षेप—मूत्र में तैल डालकर देखा जाता है। यदि मूत्र में तेल फैल जाये तो रोगी शीघ्र ठीक होगा, पर यदि तेल ऊपर वैसा का वैसा पड़ा रहे तो कष्ट साध्य है।

यदि तेल मूत्र में डूब जाय तो रोगी असाध्य है ऐसा निर्णय दें।

मूत्र की मात्रा बड़ों की अपेक्षा बच्चों में अधिक होती है। पुरुष से स्त्री कम मात्रा में मूत्र त्याग करती है।

महर्षि याज्ञवल्क्य इस विषय को यों स्पष्ट करते हैं—

श्वेत स्निग्धं निर्मलं च मूत्रं ह्लादि च फेनिलम् ।
पुमांस्याल्लक्षणैरेतैः विपरीतैस्तु षण्डकः ।

श्वेतस्निग्ध चिकनापन लिए निर्मल हो, मूत्र, तेजी से धार बांधकर आये तथा झाग प्रतीत हों, इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति को पुरुष मानो । इससे विपरीत यदि हो तो नपुंसक है । यह प्रक्रिया स्त्री पुरुष दोनों में है । पुरुष खड़े होकर भी मूत्र त्याग कर सकता है । पर यह पौरुष ग्रंथि को अशक्त करता है बैठकर ही मूत्र त्याग करना उपयुक्त है, आज के पतलून धारी व्यक्ति खड़े होकर ही मूत्र त्याग करते हैं । जिससे मल के छींटे कपड़ों पर पड़ते हैं तथा कभी-कभी पैरों पर भी इनका आक्रमण हो जाता है । उससे अनेक छूत के रोग जैसे चर्मदल आदि हो जाते हैं । बैठकर मूत्र त्याग करने से जंघा का पौरुष ग्रंथियों पर दबाव पड़ता है तथा पूर्णरूप से जितना मूत्र आना चाहिए सब साफ हो जाता है । खड़े-खड़े मूत्राशय में जो मूत्र आया निकलता है तथा कभी-कभी बूंद-बूंद भी निकलता है । अतः मूत्र त्याग में देर लगती है । मूत्रवेग को रोकना नहीं चाहिए—

न वेगान्धार येद्धीमान्

बुद्धिमान व्यक्ति वेगों को न रोके मूत्र शौच आदि को रोकने से उनकी उष्मा ऊर्ध्वगत हो जाती है उससे शिरोवेदना आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । जिसका संसार उपभोग कर रहा है । डाक्टर लोग रोगी को गैस की व्याधि बतलाते हैं तथा रोगी अपनी जीवन यात्रा दुःखमय व्यतीत करता है, अतः यदि नियम पूर्वक शरीर शुद्धि रखी जाय तो गैस आदि व्याधियां नहीं होंगी ।

स्त्रियों में भी यह नियम है। वो बैठकर ही मूत्र त्याग कर सकती हैं खड़े होकर नहीं। कारण वहां भगच्छद का मुख ऊपर को होता है, मूत्र मार्ग सीधा बैठने पर ही साफ मूत्र आ सकेगा, ह्लाद (शब्द करता हुआ) फेनिल यदि मूत्र है तो स्त्री सन्तान योग्य है। यदि इसके विपरीत तिरछी गति या ह्लाद नहीं तो सन्तान न होगी, ऐसा पूर्ण अनुभव है। स्त्रियों में विकार विपरीत रति के कारण तथा नाना प्रकार के गलत आसनों के कारण होता है।

मधुमेह रोगी का मूत्र फलों की गन्ध वाला होता है। जैसे फल सड़ गये हों ऐसा प्रतीत होगा तथा मूत्र में गाढ़ापन लिए मिठास की मात्रा होगी। जिसका परीक्षण उसे गर्म कर औषध डालकर देखने से पता लगता है। पाण्डु उत, नील वर्ण मूत्र वात प्रकोपक है। पीत अथवा रक्तवर्ण तेल समान मूत्र पित्त प्रकोप बतलाता है।

श्वेतवर्ण झागदार वर्णयुक्त मूत्र कफ प्रकोप का सूचक हैं। मूत्र द्वारा निदान करने वाले अनेक आचार्य हो गये हैं जो केवल मूत्र को देखकर ही पूर्ण निदान करते थे। आज भी ऐसे विद्वानों की कमी नहीं पर वह हमारी सरकार के ध्यान से परे हैं। इसी प्रकार शास्त्रों में नख, नेत्र दर्शन, स्पर्शन आदि विधियों से अथवा आकृति से रोग निदान किया जा सकता है।

(विशेष आकृति विज्ञान में देखें)।

❀ अर्बुद (कैन्सर) ❀

अर्बुद (कैन्सर) क्या है ?

आयुर्वेद का आधार स्तम्भ त्रिदोषवाद है सृष्टी के प्रादुर्भाव से प्रलयान्त तक इसकी सनातनता अक्षुण्य रहेगी। लोक में जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु, प्रत्यक्ष देव के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। कोई यदि इनकी सत्ता को नकारे तो यह उसकी हठधर्मिता ही मानी जायगी।

यह एक ऐसा सनातन सिद्धान्त है जिसे हम पग-पग पर निरन्तर अनुभव करते हैं। संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो इनसे परे हो। मानव-जीवन या यों कहें कि सृष्टि मात्र इसी आधार स्तम्भ पर टिकी हैं। इसका मूल दो अक्षरों में निहित हैं।

"आ" और "यू" आ का अभिप्राय आङ् उपसर्ग के आधार पर आना होता है। अर्थात् एक दिन प्राणी इस संसार में आया है, "यू" का अभिप्राय जाना है। अर्थात् एक दिन आया और एक दिन जाना है। इन दो दिन के बीच के समय का नाम इन दोनों अक्षरों के मेल से आयु बना, इस आयु शब्द के ज्ञान का नाम आयुर्वेद हुआ। इस सनातन सत्य को संसार का कोई भी व्यक्ति नकार नहीं सकता। इस ज्ञान की भित्ति त्रिदोषवाद पर आधारित है। यह पूर्व वर्णित किया जा चुका है। यहां हम आयु को नष्ट करने वाले उन आठ महा रोगों का वर्णन करते हैं, जिन्हें संसार असाध्य मानकर त्याग देता है। पर आयुर्वेद वहां अपनी कसौटी पर खरा उतरता है।

आठ महारोग

वात व्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शोभगंदरः।
अश्मरी, मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम् ॥

वात व्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगंदर, अश्मरी, (पथरी), मूढगर्भ, तथा अष्टम उदर रोग। यह आठों महारोग कहलाते हैं। जो जीवन को यथाशीघ्र मृत्यु पथ पर ले जाते हैं। वात रोगों का वर्णन पीछे वात प्रकरण में किया जा चुका है। इन ८० प्रकार के वात रोगों में प्रायः अर्धाङ्ग, अर्दित, कम्पवात, ग्रंथि-वात, दण्डापतानक आदि कष्ट साध्य तथा अति दुःखदायी है।

प्रमेह—मेहपिड़िका

आस्या सुखं स्वप्न सुखं दधीनी।
ग्राम्यौदकानूप रसाः पयांसि ॥
नवान्न पानं गुड़ वैकृतं च।
प्रमेह हेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥

सुखपूर्वक बैठना, लेटना एवं सोते रहना दही, ग्राम्य आनूप जल प्रधान पदार्थ (मांस, फल, अन्न शाकादि) दूध नवीन अन्न गुड तथा गुड़ से बने पदार्थ एवं सभी कफ कारक आहार प्रमेह रोग के कारण है। अभिप्राय यह कि इस प्रकार के व्यवहार से मूत्र निर्माण की क्रिया में वृद्धि होगी, जो प्रमेह का मूल कारण है। स्वस्थावस्था में मूत्र द्वारा शारीरिक दोष अनुपयुक्त पदार्थ शरीर से बाहर होते रहते हैं। जब मूत्र निर्माण अधिक होने लगता है, तब उसके साथ उपयोगी पदार्थ ओज भी मूत्र के साथ आने लगता है, इस उपयोगी धातु का निकलना ही धातु क्षय का कारण है। अतः यह रोग भयावह है। यह रोग तीनों दोषों से पृथक्-पृथक् नामों से जाना जाता है।

कफ जब वस्तिगत होता है, तब मांस मेद एवं शरीरस्थ जलीयांस को दूषित कर कफज प्रमेह उत्पन्न करता है। अधिक गर्म आहार-बिहार से बढ़ा हुआ पित्त-पित्तज प्रमेह उत्पन्न करता है। कफ और पित्त के क्षीण होने पर वातज प्रमेह उत्पन्न करता है। यहां यह विचारणीय है कि वातज प्रमेहों की उत्पत्ति वात वृद्धि से नहीं बल्कि कफ और पित्त के क्षय के कारण होती है। कफ और पित्त के क्षीण होने पर वात स्वतः वलवान हो जाता है तथा रोगोत्पत्ति में कारण बनता है। कफज, पित्तज, मेह समय पाकर कृशता उत्पन्न करते हैं। पर वातज उत्पन्न होने की पूर्णावस्था में ही कृशता लाता है।

वातज चार प्रमेह अत्यन्त वलवान एवं उपद्रव कारी होने से असाध्य है।

कफज दश प्रकार के हैं। इनमें कफ नाशक क्रिया से मेद-मांस आदि की वृद्धि को रोकती है तथा इनका कर्षण करती है। अतः साध्य है।

पित्तज ६ प्रमेह दोष विसंगति के कारण कष्ट साध्य माने हैं। इनमें यदि पित्त नाशक क्रिया की जाय तो मांस मेद बढ़ते हैं। यदि मांस मेदादि का कर्षण किया जाय तो पित्त बढ़ता है। इस सामंजस्य से पित्तज प्रमेह कष्ट साध्य है।

यह अत्यन्त धातु क्षय होने के कारण प्रकट होते हैं। अत्यन्त बलवान एवं उपद्रवकारी होने से यह असाध्य कोटि में आ जाते हैं। कारण कफ और पित्तहीन होने से तथा परस्पर विरोधी होने से इन्हें यथाशीघ्र बढ़ाया नहीं जा सकता इसलिए इन्हें असाध्य माना है इनकी संख्या २० है।

सामान्य लक्षण—गाढा, तन्तु मिश्रित मूत्र का होना प्रमेहों का सामान्य लक्षण है।

कफज प्रमेह :—

१. उदकमेह—का रोगी जल के समान सफेद शीतल गंध-हीन कुछ गदलापन लिए लसदार अधिक मात्रा में मूत्र त्याग करता है।

२. इक्षु मेह—इक्षु मेही गन्ने के रस के समान मीठा मूत्र त्यागता है।

३. सान्द्र मेह—रोगी का मूत्र कुछ देर रखने पर गाढ़ा हो जाता है।

४. सुरामेह—सुरामेहीं का मूत्र शराब के समान ऊपर साफ तथा नीचे गाढ़ा होता है।

५. पिष्टमेह—पिष्टमेही उड़द की पिठी के समान सफेद तथा अधिक मूत्र त्याग करता है। एव उसके रोम खड़े हो जाते हैं।

६. शुक्रमेह —शुक्रमेही शुक्र के समान तथा शुक्र मिला हुआ मूत्र त्यागता है।

७. सिकतामेह—सिकतामेही मैला तथा रेतीला कंकड़ों से युक्त मूत्र त्यागता है।

८. शीतमेह—शीतमेही अधिक मधुर एवं शीतल मूत्र त्यागता है।

९. शनैर्मेह—शनैर्मेही धीरे-धीरे मूत्र त्याग करता है।

१०. लालामेह—लालामेही लार के तन्तुओं के समान चिकना मूत्र त्यागता है।

पित्तज प्रमेह

१. क्षारमेह—क्षारमेही का मूत्र गंधवर्ण रस स्पर्शादि में क्षार मिले जल के समान होता है।

२. नीलमेह—नीलमेही नीलवर्ण का मूत्र त्यागता है।

३. कालमेह—कालमेही काली स्याही के समान काला मूत्र त्यागता है।

४. हारिद्रमेह—हारिद्रमेही हल्दी के समान पीला एवं कटु रसयुक्त दाह का अनुभव करते हुए मूत्र त्यागता है।

५. मांजिष्ठमेह—मांजिष्ठमेही मजीठ के क्वाथ के समान एवं दुर्गन्धित मूत्र त्यागता है।

६. रक्तमेह—रक्तमेही खून के समान लाल दुर्गन्धित नमकीन रस युक्त मूत्र त्यागता है।

वातज मेह

१. वसामेह—वसामेही चर्बीयुक्त या चर्बी जैसा बार-बार मूत्र त्यागता है।

२. मज्जामेह—मज्जामेही मज्जामिश्रित अथवा मज्जा जैसा अधिक मूत्र त्यागता है।

३. क्षौद्रमेह—क्षौद्रमेही मधुर एवं रुक्ष मूत्र त्याग करता है। अन्य तीन वातज प्रनेहों में स्निग्धता रहती है। इसीलिए इसे रुक्ष होने से क्षौद्र कहते हैं।

क्षौद्र शब्द मधु का पर्यायवाची शब्द है। इसलिए क्षौद्र मेह ही मधुमेह है।

४. हस्तिमेह—हस्तीमेही हाथी के समान बराबर लसिका-युक्त मूत्र त्याग करता है और मूत्र अवरुद्ध रहता है। तथा वेग उत्पन्न हुए विना ही मूत्र त्याग होता रहता है।

उपद्रव

कफज—अजीर्ण, अरुचि, वमन, निद्रा, प्रतिश्याय, खांसी ये कफज प्रमेहों के उपद्रव हैं। अर्थात् इन उपद्रवों का होना सूचित करता है कि रोगी कफजमेह से पीड़ित हैं।

पित्तज-उपद्रव—वस्ति एवं लिंग में चुभन अण्डकोषों में फटन सी प्रतीत होना। ज्वरदाह तृष्णा अम्लोद्‌गार मूर्च्छा अति-सार ये पित्तज प्रमेहों के उपद्रव हैं।

वातज—उदावर्त मूत्र निग्रह जन्य तथा कम्प हृदय में जक-ड़न लालच चठोरपना-शूल अनिद्रा शोथ, कृषता, खांसी, श्वास, ये वातज प्रमेहों के उपद्रव हैं। उक्त प्रमेह रोगी जीर्ण होने पर अथवा प्रमेह पीड़िकायुक्त यमराज सदना तिथि हो जायगा।

बीज दोष के कारण जन्मजात मेह अथवा मधुमेह रोगी असाध्य है। कुल परम्परागत आये रोग भी असाध्य माने हैं।

मेह पीड़िकायें

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी।
मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी स विदारिका॥
विद्रधि श्चेति पिडिका प्रमेहोपेक्षया दश।
सन्धि मर्मसु जायन्ते मांसलेसुच धामसु॥

शराविका, कच्छपिका, जालिनी, विनता, अलजी, मसूरिका, सर्षपिका, पुत्रिणी, विदारिका और विद्रधि ये प्रमेह पीड़िकाएं,

प्रमेह की उपेक्षा करने से अर्थात् समय पर चिकित्सा न करने से सन्धियों मर्मस्थानों एवं मांसल स्थानों में होती हैं।

लक्षण

अन्तोन्नता तु तद्रूपा निम्न मध्या शराविका।

शराविका—शराव (मिट्टी के सकोरे के समान आकार वाली और किनारों पर उभरी हुई तथा बीच में गहरी होती है।

सदाहा कूर्म संस्थाना ज्ञेया कच्छपिकाबुधैः।

कछुए के समान आकार वाली एवं दाह युक्त पिड़िका कच्छपिका हैं।

जालिनी तीव्रदाहा तु मांस जाल समावृता।

जालिनी—तीव्रदाह करने वाली तथा मांस जाल से आच्छादित रहती है अर्थात् जाल सदृश मांस तन्तुओं से युक्त होती है।

अवगाढ़रुजा क्लेदा पृष्ठे वा प्युदरेऽपि वा।
महती पिडिका नीला विनता नाम सा स्मृता॥

पीठ या उदर भाग में उत्पन्न होने वाली अत्यन्त पीडा कर गाढ़ास्राव करने वाली बड़ी तथा नीली पिडिका को विनता कहा है।

रक्तासिता स्फोट चिता दारुणात्वलजी भवेत्।

लाल एवं सफेद (लालिमायुक्त सफेदी लिए हुए) स्फोटों से युक्त भयंकर पीड़ा करने वाली अलजी होती है।

मसूराकृति संस्थाना विज्ञेयातु मसूरिका।

मसूर (मसरी) के समान आकार वाली पिडिका को

मसूरिका जानना चाहिए अर्थात् यह मसूरिका नाम से विदित है।

गौर सर्षप संस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी।

पीली सरसों के समान आकार वाली पिडिका को सर्षपिका कहते हैं।

महत्यल्पचिता ज्ञेया पिडिका चापि पुत्रिणी।

छोटी-छोटी अनेक पिंडिकाओं से युक्त पिंडिका पुत्रिणी कहलाती है।

विदारी कन्दवद् वृत्ता कठिना च विदारिका॥

विदारी कन्द के समान कठोर एवं गोल पिंडिका विदारिका कहलाती है।

विद्रधे लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका तु सा।

विद्रधी के लक्षणों से युक्त पिडिका को विद्रधिका समझना चाहिए।

दोष दुष्य भाव—

ये यन्मयाः स्मृताः मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः।

जो प्रमेह जिस दोष की प्रधानता से उत्पन्न होता है, उसकी पिडिका भी उसी दोष से उत्पन्न होती है।

अन्य कारण—

बिना प्रमेह मप्येताः जायन्ते दुष्ट मेदसः।

बिना प्रमेह के भी ये दुष्ट मेद के कारण हो जाती है। अर्थात् मेद वृद्धि भी इनके होने में कारण हैं।

तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तु परिग्रहः।

जब तक ये बढ़ती नहीं, तब तक इनका ज्ञान नहीं हो पाता।

अर्थात् ये धीरे-धीरे बढ़ती है, जब ये अपना पूर्ण आकार ग्रहण कर लेती है। तब इनका ज्ञान होता है।

पिडिकाओं की असाध्यता—

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडिकाः परिवर्जयेत् ॥

गुदा, हृदय, शिर के भाग में कन्धे, पीठ और मर्म स्थानों में उत्पन्न उपद्रव सहित दुर्बल अग्नि वालों की पिडिकाएं असाध्य है। अर्थात् इनकी चिकित्सा ईश्वराधीन है।

पिडिका-विद्रधि समूह है—

यह स्त्री, पुरुष तथा बालकों में भी पाया जाता है इनके प्रारम्भ में छोटा सा भाग कठोर हो जाता है। उसमें शोथ होकर वहां का वर्ण कुछ लालिमायुक्त होकर क्रमशः फैलता है। रोगी दर्द के मारे सो नहीं सकता समय पाकर इस शोथ में छोटे-छोटे दाने से बनकर पक जाते हैं तथा व्रण का रूप धारण कर लेते हैं और पूय आने लगता है। फिर धीरे-धीरे इसका विष रोगी को अत्यन्त दुर्बल बना देता है। व्रण अधिक गहरा हो जाता है।

यह एक भयंकर रोग है जिसके कारण मेही की शीघ्र मृत्यु हो जाती है, प्रायः ये पीठ अथवा दोनों कन्धों के बीच होती है यदि यह ग्रीवाग्र भाग या चेहरे पर हो जाय तो अतीव भयंकर हैं।

❀ कुष्ठ ❀

विरोधीन्यन्नपानानि द्रव स्निग्ध गुरूणि च।
भजतामागतां छर्दि वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥
व्यायाममतिसंतापमति भुक्त्वा निषेविणाम्।
घर्मश्रम भयार्तानां द्रुतं शीताम्बु सेविनाम्॥
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम्।
नवान्नदधि मत्स्यातिलवणाम्ल निषेविणाम्॥
माष मूलक पिष्ठान्न तिल क्षीर गुड़ाशिनाम्।
व्यवायं चाप्यजीर्णेन्ने निद्रां च भजतांदिवा॥
विप्रान् गुरुन् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च॥
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्य संग्रहः।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्तचैकादशैव च॥

विरोधी, द्रव स्निग्ध एवं भारी अन्न पान का सेवन, आए हुए वमन को रोकना, अति भोजन करके व्यायाम या तीव्र ताप का सेवन, धूप परिश्रम एवं भय से व्याकुल होने पर शीघ्र ही शीतल जल का सेवन, कच्चा भोजन तथा भोजन के तुरन्त बाद भोजन करने, पञ्च कर्मों में कुपथ्य करने, नया अन्न दही मछली नमक एवं खटाई का अधिक सेवन करने, उड़द, मूली, पिट्ठी के बने पदार्थ तिल, दूध एवं गुड़ खाने से भोजन पचने के पूर्व ही मैथुन करने से, दिन में सोने से, गुरुजनों का अपमान करने तथा पाप कर्म करने से, वातादि दोष कुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस और जलीय धातु को दूषित करते हैं। यह सप्तक (वात, पित्त, कफ, त्वचा, रक्त, मांस, ओज) इन सातों के दूषित होने से सात

प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के दोष दूष्य भाव से ११ प्रकार के कुष्ठ हो जाते हैं। जो संख्या में १८ होते हैं। यह रोग महारोग होने के साथ-साथ जीवन को निःसार कर देते हैं।

सात महाकुष्ठ

कापालकुष्ठ—काला, अरुण, खपड़े के समान रूखा, पतला, अधिक चुभने वाला, विषम यह कापाल कुष्ठ के लक्षण हैं।

औदुम्बर—दाह, पीड़ा, लाली तथा खुजलाहट से युक्त कपिलवर्ण के रोमों से युक्त गूलर के फल के समान दीखने वाला कुष्ठ औदुम्बर कहलाता है।

मण्डल—सफेद लाल स्थिर गीला चिकना उभरे हुए मंडलों वाला मण्डल नाम से विख्यात है।

ऋष्यजिह्व—कर्कश, खुरदरा, कठिन, किनारों पर लाल बीच में श्यामता लिए वेदना युक्त, रोहु हिरण की जिह्वा के समान कुष्ठ को ऋष्यजिह्व कहते हैं।

पुण्डरीक—लाल, सफेद किनारों वाला लाल कमल की पंखुड़ी के समान उभरा हुआ, कुष्ठ पुण्डरीक कहलाता है।

सिध्म—ताम्रवर्ण श्वेत पतला जिसमें रगडने पर धूल सी निकलती है। लौकी के फूल के समान सिध्म कहलाता है। यह प्रायः छाती पर होता है। इसकी संज्ञा असाध्य कुष्ठों में की है।

काकण—घुंघची के समान वर्ण वाला पाकयुक्त तीव्र वेदना करने वाला त्रिदोषज काकण हैं यह कुष्ठ असाध्य है। इसी प्रकार ११ क्षुद्र कुष्ठ हैं। इनकी भी चिकित्सा रक्त मोक्षण एवं रक्तशोधन द्वारा ही करनी चाहिए।

इस रोग के त्वचागत होने पर अङ्गों में विवर्णता रूक्षता सुप्ति रोम हर्ष एवं प्राय: स्वेद अधिक आता है।

रक्त में होने से खुजलाहट एवं पूय निकलता है।

मांस में होने पर मुख सूखना, कठोरता पिडिकाओं की उत्पत्ति चुभन एवं स्थिरता रहती है।

मेद में स्थित होने पर अङ्गों का गलना गतिहीनता तथा व्रण का फैलना आदि लक्षण होते हैं।

मज्जा तथा अस्थिगत होने पर नाक का बैठना नेत्रों में लाली व्रणों में क्रिमियों का होना तथा स्वर विकृत हो जाता है। कुष्ठ रोगयुक्त दम्पति के रक्त और शुक्र में दूषितांश होने पर उनकी सन्तान भी उक्त रोग से पीड़ित होती हैं। यह वंश परम्परागत माना है।

वात एवं कफाधिक्य से होने वाला कुष्ठ त्वचा रक्त मांस स्थित होने से साध्य है। द्वन्द्वज मेद में स्थित होने से याप्य है। मज्जा तथा अस्थिगत असाध्य है। क्रिमि तृष्णा दाह मन्दाग्नि से युक्त त्रिदोषज भी असाध्य है।

जिसके अङ्ग गलना शुरू हो गए हों। फटे हों अथवा स्राव होता हो नेत्र लाल तथा स्वर नष्ट हो गया हो। पंचकर्म, वस्ति आदि क्रियाओं के सहने में असमर्थ हों। वह कुष्ठ रोगी निश्चय ही यमराज का अतिथि बनता है।

संक्रमण

शरीर का स्पर्श निश्वास, साथ-साथ भोजन एक शय्या पर सोना, एक ही आसन पर बैठकर रोगी द्वारा उपयोग किये गये वस्त्रादि का उपयोग, कुष्ठ ज्वर शोष क्षय नेत्राभिष्यन्द तथा अन्य औपसर्गिक रोग एक से दूसरे व्यक्ति में आ जाते हैं अर्थात् एक दूसरे से लग जाते हैं। ★

अर्श (बवासीर)

अर्श गुद भाग के वलियों में होते हैं इनके छः प्रकार हैं। वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, रक्तजऔर सहज जो जन्मजात है।

बृहदन्त्र का अन्तिम भाग गुद मार्ग है। यहां रहने वाली प्रवाहिणी, विसर्जिनी तथा संवरणी तीन वलियां शंख नाभि के समान है. इन्हीं में दोष दुष्य भाव से अर्श का प्रादुर्भाव होता है।

प्राप्ति

दोषास्त्वङ् मांस मेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन्।
मांसांकुरान्पानादौ कुर्वन्त्यर्शासि तान् जगुः॥

वातादि, दोष, त्वचा, रक्त, मांस, मेद को दूषित कर गुद मार्ग पर अनेक आकृति वाले मांसांकुरों को उत्पन्न करते हैं। उन्हें अर्श के नाम से शास्त्रकारों ने वर्णित किया है। यहां आदि शब्द से नासार्श लिङ्गार्श आदि का भी बोध होता है। अर्थात् गुदमार्ग में ही नहीं अन्य स्थानों पर भी नासिका में नासार्श, लिंग में लिंगार्श, त्वचा में त्वचार्श की उत्पत्ति देखी गई है।

वातार्श

चरपरे, कड़वे, रूखे, शीतल एवं लघु आहार, तीक्ष्ण' मद्य मैथुन, लंघन शीतल देश ऋतु, व्यायाम, शोक तथा वायु का अधिक सेवन वातार्श को उत्पन्न करता है।

पितार्श

पित्तज अर्श के मस्से, लाल, पीले, काले वर्ण के तथा नीले

अग्रभाग वाले पतले रक्त का स्राव करने वाले दुर्गन्धित जोंक के मुख के समान होते हैं।

ये दाह, पाक, ज्वर, स्वेद, तृष्णा, मूर्च्छा अरुचि तथा मोह उत्पन्न करते हैं। जलन के साथ पतला नीलवर्ण, रक्तवर्ण आदि कच्चा उष्णमल निकलता है। ये मस्से यव के समान मध्य में मोटे किनारों पर पतले होते हैं। इनके कारण त्वचा नख आदि हरे पीले वर्ण के हो जाते हैं।

कफार्श

कफार्श के मस्से मोटी जड़वाले ठोस मन्द पीड़ायुक्त गोल स्थिर चिकने अधिक खुजली करने वाले होते हैं। इनके स्पर्श से रोगी को कुछ शान्ति मिलती है। कहीं-कहीं करील या कटहल या गोस्तन के समान भी देखे गये हैं। इनके उपद्रव जंघा प्रदेश में भारीपन गुदमार्ग में शोथ मूत्राशय नाभी प्रदेशों में खिचाव श्वास कास, जी मचलाना लार का आना पीनस मूत्र कृच्छ्र मस्तिष्क में शून्यता कफ ज्वर नपुंसकता मन्दाग्नि वमन आदि हैं। इनमें न स्राव होता है, न फूटते हैं। रोगी का वर्ण पीला हो जाता है। कफ मिश्रित चर्बी के समान मल त्याग करता है।

सन्निपातज

तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त अर्श सन्निपातज कहलाते हैं और सहज अर्श जन्मजात होता है।

रक्तार्श

रक्तार्श के मस्से वटजटा के समान तथा वर्ण में गुंजा सदृश होते हैं। इनमें पित्त के लक्षण भी मिश्रित रहते हैं। इनमें दबने पर या मल के कड़ापन होने पर एकाएक उष्ण रक्त का स्राव

दूषितांश में होने लगता है। रक्त के अधिक निकलने पर रोगी का वर्ण पीला हो जाता है तथा रक्त क्षय के रोगों से पीड़ित हो जाता है। इन्द्रियां निर्बल होने से कार्य करने में असमर्थ हो जाती हैं।

रक्त में वातज, कफज, अनुबन्ध होता है। वातज अनुबन्ध में मल का श्याम वर्ण होना कड़ापन, अपान वायु का अवरोध मस्सों में गिरने वाले रक्त का वर्ण श्यामलता लिए हुए कमर, जंघा, गुदमार्ग में शूल एवं दुर्बलता अधिक होती है।

कफज-अनुबन्ध में मल ढीला सफेद, पीला, चिकना, भारी शीतल स्राव गाढ़ा तन्तुमय पीताभ एवं सचिक्कण होता है।

पूर्वरूप

अन्न का आमाशय में अधिक देर तक रहना दुर्बलता कूख का फूलना अधिक डकारें आना जघन स्थान में पीड़ा मल का थोड़ा एवं देर से निकलना ग्रहणी पाण्डु उदर रोग होने का भ्रम अर्श की उत्पत्ति के पूर्वरूप हैं।

गुद नलिकाओं के कार्य

प्रवाहिणी—मल को निकलने के लिए प्रेरित करती है। यह प्रवहण स्वस्थावस्था में सुखप्रद तथा अस्वस्थावस्था में कष्ट कर होता है। कारण कि प्रवाहिका आदि रोग इसकी क्रिया का अवरोध करते हैं।

विसर्जिनी—प्रवाहिणी द्वारा प्रेरित मल को विसर्जिनी नीचे को जाने के लिए ढकेलती है।

संवरणी—गुदा को ढककर रखती हैं, मल त्याग के समय फैलती हैं तथा उसके बाद संकुचित हो जाती हैं, योगी लोग

संवरिणी का संकोच-विकोच करके मूलाधार की साधना कर कुण्डलिनी का जागरण करते हैं। गुदौंष्ठ—इसके द्वारा ही संकोच विकोच की क्रिया करते हैं।

यहां यह विचारणीय है कि बाह्य वलिका का अर्श साध्य एव द्वितीय वलिका कष्ट साध्य, त्रिवलिगत त्रिदोषज असाध्य हैं।

अरिष्ट लक्षण—

अर्श रोगी के इस प्रकार यदि लक्षण हों तो वह असाध्य है। हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा, अण्डकोष इनमें शोथ हो तथा हृदय एवं पार्श्व में शूल हो वह असाध्य है।

हृदय, पार्श्व में शूल सम्मोह, वमन, अङ्गमर्द, ज्वर, तृष्णा, गुदपाक रोगी को मृत्यु का ग्रास बना देते हैं।

अन्य स्थानों क अर्श

लिंग, नासा, कर्ण, त्वचा में होने वाले अर्श पृथकतया देखे गये हैं। इनके होने में विशेष कारण निम्न प्रकार हैं।

मलावरोध, मद्यपान, शारीरिक श्रम उत व्यायाम न करना अष्ठीला, गुद भ्रंश, प्रवाहिका, गुदोष्ठ का तीव्र संकोच, गुद-मार्ग के घातक अर्बुद स्त्रियों में मासिक की विकृति रज का न होना, गर्भधारण, गर्भाशय का ढीलापन आदि है।

इन कारणों से गुदमार्ग की शिराओं में कुटिलता होने पर रोगी तब तक कष्ट का अनुभव नहीं करता, जब तक अन्य सह-योगी कारण प्रकट न हों। मुख्यतया ये कारण निम्न प्रकार हैं। अधिक देर तक अत्यन्त शीत स्थानं एवं गीले स्थान पर रहना, कारणवश गुदा के पास गीले वस्त्र का धारण, तीव्र वात सेवन, अधिक मद्यपान, अति चरपरे भोजन तेज जुलाब, (जमालगोटा एलुवा) आदि से अर्श रोग की उत्पत्ति मानी है।

❀भगन्दर❀

गुदस्य द्वयंगुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकार्तिकृत् ।
भित्वा भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्च विधोमतः ।।

गुदमाग के दो अंगुल के भाग में अति पीड़ा करने वाली पिडिका उत्पन्न होती है । जिसके फूटने पर व्रण हो जाता है । उसे भगन्दर के नाम से विख्यात किया है और यह ५ प्रकार का माना है ।

वातज—शतपोनक—

कषाय रुक्षैस्त्वति कोपितोऽनिल
स्त्वपानदेशे पिडकांकरोति याम् ।
उपेक्षणात् पाक मुपैति दारुणं,
रुजां च भिन्नाऽरुण फेनवाहिनीं ।
तत्रागमो मूत्र पुरीष रेतसां,
वर्णैरनैकै शतपोनकं वदेत् ।

कसैले तथा रुक्ष पदार्थों के सेवन से अत्यन्त कुपित हुआ वायु गुदमार्ग में पिडिका उत्पन्न कर देता है । उसकी उपेक्षा से अर्थात् सुचारू रूप से चिकित्सा न कराने पर पक जाती है और इसके फूटने पर लालिमायुक्त झागदार स्राव होने लगता है । इन व्रणों में से ही मूत्र मल वीर्य निकलने लगता है । इसे शत-पोनक भगन्दर के नाम से सैकड़ों छिद्र होने से इसका नाम करण किया गया है ।

पित्तज-भगन्दर-उष्ट्रग्रीव

प्रकोपणैः पित्तमति प्रकोपितम् ।
करोति रक्तां पिडिकां गुदाश्रिताम् ।।

तदाऽशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं,
भगन्दरं तूष्ट्र शिरो धरं वदेत् ॥

पित्त अनेक कारणों से अत्यन्त कुपित हो गुद प्रदेश में शीघ्र पकने वाली लाल वर्ण वाली पिडिका उत्पन्न करता है। इसमें से दुर्गन्धित उष्ण स्राव निकलता है। इसका छिद्र ऊंट की ग्रीवा के समान उभरा हुआ रहने से इसे उष्ट्र ग्रीव कहते हैं।

कफज-परिस्रावी—

कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदनः।
श्वेतावभासः कफजः परिस्रावी भगन्दरः ॥

खुजली करने वाला तथा जिसमें गाढ़ा स्राव हो, श्वेताभ कठोर एवं मन्द वेदना वाले भगन्दर को परिस्रावी कहते हैं।

सन्निपातज—शम्बूकावर्त—

बहुवर्ण रुजा स्रावा पिडिका गोस्तनोपमा।
शम्बूकावर्त वन्नाड़ी शम्बूकावर्तकोमतः ॥

अनेक वर्ण, अनेक प्रकार की पीड़ा स्राव गउ के स्तन के आकार की पीडिका जो शंख के चक्रों के समान या नदी वेग से उठे भंवरों के समान नाड़ीव्रण को शम्बूकावर्त भगंन्दर कहते हैं।

आगन्तुक या उन्मार्गी—

गुदा मार्ग पर क्षत लगने या व्रण होने पर उसकी उपेक्षा से उसमें क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं और वह अनेक मार्ग बना लेते हैं। इसीलिए इसे उन्मार्गी भगन्दर कहा है। दोषज भगन्दरों में क्रिमि देखे गये हैं।

साध्यासाध्यता—

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः।
तेष्वासाध्यास्त्रिदोषोत्थाः क्षतजश्च विशेषतः ॥

सभी प्रकार के भगन्दर कष्ट साध्य है, उनमें भी त्रिदोषज तथा क्षतज विशेषतया असाध्य है।

वात मूत्र पुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च।
भगन्दरात् स्रवंतस्तु, नाशयन्ति तमातुरम् ॥

वायु, मूत्र, मल, क्रिमि एवं शुक्र व्रण माग से जिस भगन्दर रोगी को निकलते हैं। वह शीघ्र इहलोक लीला समाप्त कर लेता है। इनकी उत्पत्ति प्रायः विद्रधियों के कारण होती है। इनके विकार से जब दोष अति दूषित हो जाते हैं तथा रोगी की उपेक्षा रहती है तब यह नाड़ी व्रण का रूप धारण कर लेते हैं। पहले इनमें से वात एवं मूत्र आना प्रारम्भ होता है धीरे-धीरे बढ़ने पर मूत्र प्रारम्भ हो जाता है फिर शुक्र स्त्रियों में यह गुदमार्ग एवं अपत्य मार्ग के बीच का मार्ग फट जाने पर दोनों मार्ग एक होने से विशेष कष्टदायक भगन्दर मृत्यु सूचक है। कारण व्रण प्रतिदिन के क्षारीय मल मूत्र के संयोग से बढ़ता ही है। पूरण नहीं हो सकता।

❀अश्मरी (पथरी)❀

वात, पित्तकफैस्तिस्त्रः चतुर्थी शुक्रजाऽपरा।
प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वाः, अश्मर्यः स्युयमोपमाः ॥

वात, पित्त, कफ से तीन तथा शुक्र से चौथी उत्पन्न पथरी होती है। प्रायः सभी में कफ का आश्रय है और ये सभी मृत्यु के समान कष्टदायक होती है।

प्राप्ति—

विशोषयेद् वस्ति गतं स शुक्रं, मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।
यदा तत्राऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥

वस्तिगत मूत्र शूक्र पित्त एवं कफ को जब वायु शुष्क कर देती है, तब जिस प्रकार गौ के पित्ताशय में गोरोचन उत्पन्न होता है। उसी प्रकार अश्मरी भी उत्पन्न होती है। सभी अश्मरियाँ, त्रिदोषज होती है।

कारण कफ कणों को चिपकाता है। पित्त पकाता है। वायु सुखाता है। इस प्रकार अश्मरियों के होने में तीनों दोष ही कार्यरत हैं। अकेला कोई दोष इसे उत्पन्न नहीं कर सकता। इसके निर्माण में कफ की न्यूनता होने पर अश्मरी के स्थान पर सर्करा बन जाती है।

पूर्वरूप

नैक दोषाश्रयाः सर्वाः अथासांपूर्वलक्षणम्।
वस्त्याध्मानं तदासन्न देशेषु परितोऽतिरुक्।
मूत्रे वस्त स गंधत्वं मूत्रकृच्छं ज्वरोऽरुचिः।

मूत्राशय में वात प्रकोप से अफारा सा होना एवं मूत्राशय

के चारों ओर के केन्द्रों में अत्यन्त पीड़ा होना, बकरे के समान गन्ध आना मूत्र कृच्छ्र ज्वर और अरुचि होना पूर्वरूप है।

वाजत अश्मरी

तत्र वाताद् भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपते।
गृहणाति मेहनं नाभि पोडयत्यनिशं क्वणन्॥
सानिलं मुञ्चति शकृन् मुहुर्मेहति बिन्दुशः।
श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कंटकैर्भु व:॥

वातज—अश्मरी से रोगी अत्यधिक पीड़ित रहता है। दांत भींचता है, कांपता है, बार-बार कांखता हुआ लिङ्ग एवं नाभी को पकड़ता है। अपान वायु समेत मल त्याग करता है। बार-बार बूंद-बूंद मूत्र त्याग करता है। तथा अश्मरी श्यामतायुक्त अरुण वर्ण की एवं कंटक समान आभारों से युक्त रहती है।

पित्तज अश्मरी—

पित्तेन दह्यते वास्तः पच्यमान इवोष्मवान्।
भल्लातकास्थि संस्थाना रक्त पीताऽसिताश्मरी॥

पित्तज अश्मरी में मूत्राशय में पकते हुए विद्रधि के समान दाह एवं उष्णता रहती है। भिलावे की गुठली के समान अश्मरी लाल, पीली एवं काली रहती है।

कफज अश्मरी—

वस्तिर्निस्तुद्यत ईव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः।
अश्मरी महतो श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽश्रयासिता॥

कफज अश्मरी में मूत्राशय में चुभन होती है तथा मूत्राशय में शीतल एवं भारीपन रहता है। पथरी बड़ी तथा चिकनी शहद के समान वर्ण वाली अथवा सफेद होती है।

साध्यता—

एता भवन्ति बालानां तेषामेवच भूयसा।
आश्रयोपचयाल्पत्वाद् ग्रहणाहरणे सुखाः॥

उपर्युक्त पथरी प्रायः बालकों में पाई जाती हैं। बच्चों में मूत्राशय अधिक पुष्ट न होने के कारण पकड़ने एवं निकालने में सुविधा रहती है।

शुक्राश्मरी—

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्र धारणात्।
स्थानाच्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः॥
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी।
बस्तिरुङ्मूत्र कृच्छ्रत्व मुष्कश्वयथु कारिणी॥
तस्यामुत्पन्न मात्रायां शुक्रमेति विलीयते।
पीडितेत्ववकाशेऽस्मिन्, अश्मर्येवं च शर्करा॥

शुक्राश्मरी निकलते हुए वीय के रुक जाने से होती है। अपने स्थान से निकलने पर रोके गए वीर्य को वायु अण्डकोषों में सुखा देती है। जिस कारण वह शुक्र अश्मरी का रूप धारण कर लेता है। इससे मूत्राशय में पीड़ा एवं अण्डकोषों में शोथ हो जाता है। उत्पन्न होते ही यदि इसे मसल दिया जाय तो वह वीर्यमात्र होने से विलीन हो जाती है। किन्तु समय पाकर यही वीर्य वायु द्वारा सुखा देने पर कठोर अश्मरी के रूप में परिणत हो जाता है। विपरीत क्रिया करने से भी यह रोग देखा गया है और यही वायु द्वारा सूक्ष्म कणों में विभक्त अश्मरी ही शर्करा है। इसके बड़े कणों को शर्करा तथा छोटे कणों को सिकता कहते हैं। वायु के अनुलोम होने से यह मूत्र के साथ निकल जाती है

तथा प्रतिलोम होने से रुक जाती है। रुकने पर यह दुर्बलता, अवसाद, कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, पाण्डुता, उष्णवात, तृष्णा, हृद्पीड़ा वमन् आदि उपद्रव कर देती है।

अश्मरी की असाध्यता—

प्रशून नाभिवृषणं वद्ध मूत्रं रुजातुरम्।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥

जिसकी नाभी एवं अण्डकोषों में शोथ हो। मूत्र रुका हो, पीड़ा से व्याकुल हो उसे पथरी एवं सिकता मार देती है। इस की चिकित्सा यथाशीघ्र करनी चाहिए चिरकारी होने से कष्ट साध्या हो जाती है। इसका चिकित्सा सूत्र मूत्र साफ आना तथा मलावरोध नहीं होना चाहिए। यही अश्मरी शरीर के किसी भी प्रदेश में बुलबुले के समान यदि अपना आकार बना ले तो वायु की सहायता से अर्बुद के रूप में भी इनकी परिणति देखी गई है।

❀ मूढ़गर्भ ❀

सर्वावयव सम्पूर्णो मनो बुध्यादि संयुतः ।
विगुणापान संमूढो मूढगर्भाऽभिधीयते ॥

जिसके सब अवयव पूर्वतया विकसित हो गये हों और मन बुद्धि आदि से युक्त हो । ऐसा गर्भ अपानवायु द्वारा सम्मूढ़ (मार्ग खोजने में असमर्थ) मूढ़गर्भ कहलाता है ।

वायु विमार्गगामी होकर योनी उदर आदि में शूल तथा मूत्रावरोध करता है । विगुण (विकृत) वायु द्वारा टेढ़ा किया गया गर्भ अनेक प्रकार से योनी मार्ग में स्थित रहता है । छाती के बल, सिर आगे को अथवा दोनों हाथ इस प्रकार विभिन्न प्रकार से गर्भ की गति होती है । जो स्त्री के लिए मरणावस्था उत्पन्न कर देता है तथा ठीक उपचार न होने से जच्चा, बच्चा दोनों ही काल कवलित हो जाते हैं । यहां यह स्मरणीय है कि गर्भवती स्त्री को अधिक तीक्ष्ण गर्म मसालेदार पदार्थ तथा पुरुष संग वर्जित है ।

उदर रोग

रोगाः सर्वेऽपि मन्देग्नौं, सुतरामुदराणि च ।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मल संचयात् ॥

प्रायः सभी रोग अग्नि, मान्द्य, अजीर्ण, अनिष्ट भोजन तथा मल संचय से होते हैं । इनमें प्रधान उदर है । कारण यह सभी का अधिष्ठान है । सभी इसी के आश्रित हैं ।

सम्प्राप्ति

रूध्वा स्वेदाम्बु वाहिनी दोषाः स्रोतांसि संचिता ।
प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥

स्रोतों में संचित दोष स्वेदवाही जालवाहिनी नाड़ियों का अवरोध प्राणवायु, अग्नि तथा अपान वायु को दूषित करके उदर रोग उत्पन्न करते हैं ।

सामान्य लक्षण—

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता ।
शोथः सदन मङ्गानां सङ्गोवात पुरीषयोः ।
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥

आध्मान (अफारा) चलने में अशक्तता, कमजोरी, अग्निमान्द्य, (अजीर्ण) शोथ, अङ्गों में शिथिलता वायु और मल का अवरोध (रुकावट) कब्ज, दाह एवं तन्द्रा ये लक्षण प्रायः सभी उदर रोगों में होते हैं ।

उदर रोगों के भेद—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ।
संभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिंगं पृथक् शृणु ॥

उदर रोग संख्या में ८ हैं । वातज, पित्तज, कफज, एवं सन्निपातज, प्लीहोदर, क्षतोदर अथवा परिस्राव्युदर तथा जलोदर इनके लक्षण पृथक्पृथक् सुनो ।

वातोदर—

तत्र वातोदरे शोथः पाणि पान्नाभि कुक्षिषु ।
कुक्षि पार्श्वोदरकटि पृष्ठरुक् पर्व भेदनम् ॥
शुष्क कासोङ्गमर्दोऽधो गुरुता मल संग्रहः ।
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धि ह्रासवत् ॥

सतोद भेदमुदरं तनु कृष्ण सिराततम्।
आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च॥
वायुश्चात्र सरुक् शब्दो विचरेत् सर्वतो गतिः।

वातोदर में हाथ, पैर, नाभि एवं कुक्षि में शोथ, कुक्षि, पार्श्व, उदर, कटि, पीठ में पीड़ा पर्वों में फटन सूखी खांसी अंगों में भारीपन, मलावरोध, त्वचा आदि का वर्ण श्याम तथा अरुण होना उदर अचानक कभी फूलता है कभी पिचक जाता है। आध्मान होने पर घुमन होने लगती है। शिराएं पतली तथा काली उभर आती हैं। ठेपन क्रिया करने पर मशक के समान आवाज आती है। वायु सब ओर पीड़ा तथा आवाज करती हुई फिरती है।

पित्तोदर—

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित्।
पीतताम्रसिरानद्धं सस्विदं सोष्म दह्यते।
धूमायते मृदु स्पर्शं क्षिप्रं पाकं प्रद्रूयते॥

पित्तोदर में ज्वर, मूर्च्छा, दाह, तृष्णा, मुख में कड़वाहट, भ्रम, अतिसार तथा त्वचा में पीलापन आ जाता है। उदर हरी, पीली तथा ताम्रवर्ण वाली सिराओं से व्याप्त, स्वेद (पसीना) से युक्त स्पर्श उष्ण तथा दाह युक्त रहता है। मुख एवं गले द्वारा उदर से धूआं सा निकलता प्रतीत होता है। पेट स्पर्श में मृदु होते हुए भी उसमें (पाक) पूयोत्पत्ति शीघ्र होने लगती है।

कफोदर—

श्लेष्मो दरेऽङ्गसदनं स्वापः श्वयथु गौरवम् ।
निद्रोत्क्लेशोऽरुचिः श्वासः कासः शुक्लत्वगादिता ।।
उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्ल राजीततं महत् ।
चिराभिवृद्धं कठिनं शीत स्पर्शं गुरुं स्थिरम् ।।

कफोदर में अङ्गों में शिथिलता, प्रसुप्ति, शोथ तथा भारीपन रहता है। निद्रा, उत्क्लेश, अरुचि, श्वास, कास, त्वचा आदि में शुक्लता (प्रश्वेतता) आदि लक्षण होते हैं। पेट गीला सा चिकना, सफेद रेखाओं से युक्तबढा हुआ। कठोर, स्पर्श में शीतल भारी और स्थिर रहता है।

सन्निपातज—

स्त्रियोऽन्नपानं नखलोममूत्र,
विडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च,
दुष्टाम्बु दूषीविष सेवना द्वा ।
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः ।
कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिंगम् ।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च,
विशेषतः कुप्यति दह्यते च ।
सचातुरो मुह्यति हि प्रसक्तं,
पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ।
दूष्योदरं कीर्तित मेत देव,
प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ।

जिस रोगी को दुश्चरित्र स्त्रियां अन्न अथवा पानीय वस्तु में नख, रोम, मूत्र, मल अथवा आर्तव (रजः) मिलाकर खिला

देती हैं अथवा जिसे दुश्मन जहर विष आदि का प्रयोग कर देते हैं। अथवा दूषित जल या दूषी विष के सेवन से तीनों दोष और रक्त दूषित होकर भयंकर उदर रोग सन्निपातज उत्पन्न कर देते हैं। शीतल वायु चलने पर तथा मेघाच्छादितदुर्दिन में विशेष (मेघाच्छन्नं हि दुर्दिनम्) रूप से कुपित होता है तथा दाह उत्पन्न करता है। रोगी पाण्डु वर्ण वाला तथा कमजोर हो जाता है। बार-बार मूर्छित होता है तथा प्यास अधिक लगती है। इसी को दूष्योदर भी कहा है। आगे प्लीहोदर का वर्णन किया जाता है।

प्लीहोदर—

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः।
प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफाश्च।
प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ।
प्लीहोत्थ मेतज्जठरं वदन्ति।
तद्वाम पार्श्वे परिवृद्धिमेति।
विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र।
मन्द ज्वराग्निः कफ पित्तलिंगैः।
उपद्रुतः क्षीणबलोऽति पाण्डुः।

विदाही, अभिष्यन्दी पदार्थों का अति सेवन करने से रक्त और कफ अत्यन्त दूषित होकर प्लीहा का अधिक बढ़ जाना प्लीहोदर कहलाता है। पेटवाम भाग में विशेषतया बढ़ जाता है। रोगी दुःखी तथा ज्वर से पीड़ित रहता है और जठराग्नि अति क्षीण हो जाती है। रोगी कफ और पित्त के उपद्रवों से युक्त पीताभ तथा निर्बल हो जाता है।

यकृदाल्युदर—

सवाम पार्श्वे यकृति प्रबुद्धे ज्ञेयं यकृदाल्युदरंतदेव।

दाहिनी ओर यकृत् (जिगर) की वृद्धि होने पर प्लीहोदर की भांति यकृदाल्युदर मानना चाहिए।

बद्ध गुदोदर—

यस्यान्त्रमन्नैरूपलेपिभिर्वा,
बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत्।
संचीयते तस्य मलः सदोषः,
शनैः शनैः संकर वच्च नाडयाम्।
निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं,
निरेति कृच्छादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभि मध्ये परिवृद्धिमेति,
तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति॥

जिस रोगी की आंतें चिपकने वाले अन्न एवं पथरी से अवरुद्ध हो जाती है। उसका मल दूषित होकर संचित होता रहता है, जिस प्रकार नाली में कूड़ा-करकट जमा हो जाता है, उसी प्रकार मल मार्ग (गुदा) में मल रुक जाता है। उसका पेट (उदर) हृदय और नाभि के बीच बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। इस उदर रोग को बद्ध गुदोदर के नाम से विख्यात किया है।

क्षतोदर—

शल्यं तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं,
भुक्तं भिनत्यागतमन्यथा वा।
तस्मात्स्तुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः,
स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः।
नाभेरधश्चोदरमेतिवृद्धि,
निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम्।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं,
दकोदरं कीर्तयतो निबोध।

भोजन के साथ अथवा अन्य किसी प्रकार से उदर में गया-शल्य (लोहादि कण) आंत में छिद्र कर देता है। इस कारण आंत से जल समान स्राव टपकता हुआ, अति मात्रा में गुदमार्ग से निकलता है। उदर नाभि के निम्न भाग में बढ़ जाता है। एवं अत्यधिक चुभन तथा फटन होती है। इसे परिस्राव्युदर एवं क्षतोदर कहा है। यह स्राव दोनों ओर होता है। आंत के अन्दर का स्राव गुदा मार्ग से निकलता है एवं अन्दर का स्राव उदर वृद्धिकारक होता है। इससे आगे दकोदर (जलोदर) का वर्णन किया जाता है।

जलोदर—

यः स्नेह पीतोऽप्यनुवासितो वा,
वान्तो विरिक्तोप्यथवा निरुढ़ः।
पिवेज्जलं शीतल माशुतस्य,
स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि।
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपितेषु,
दकोदरं पूर्ववदभ्यु पैति।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि,
समाततं पूर्ण मिदाम्बुना च।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च,
शब्दायते चापि दकोदरं तव॥

जो रोगी स्नेह पान एवं अनुवासन वस्ति लेने के बाद सद्यः शीतल जल का प्रयोग करता है। उसके जलवाही स्रोत दूषित एवं सचिक्कन हो जाते है। जिसप्रकार घी या तेल से चिकने हाथों पर यादे शीतल जल डाल दिया जाय तो हाथ चिकनाई के कारण चिपचिपे हो जाते है, वहां उष्ण जल से ही उन्हे धोया जा सकता है। इसीप्रकार अनुवासन करने पर

अन्तडियों की दशा होती है वहां शीतल पेय विकृति उत्पन्न करता है। और दकोदर (जलोदर) का कारण बनता है। जलोदर से पीडित रोगी का पेट स्निग्ध बड़ा उल्टी हुई नाभि युक्त फूला हुआ जल से भरी हुई मशक के समान कम्पायमान तथा शब्द करता है। यहां उष्णोदक प्रयोग ही हितावह है।

साध्य-असाध्य भेद

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्
वलिनस्तद जाताम्बु यत्न साध्यं नवोत्थितम्।
पक्षाद्वद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा।
प्रायो भवत्य भावाय छिद्रान्त्राचोदरं नृणाम्।

उदर रोग प्रायः कष्ट साध्य माना है। वलवान व्यक्ति का नवीन उदर रोग जबतक उसमें जलोत्पत्ति न हुई हो तबतक यत्न पूर्वक चिकित्सा करने से साध्य है। एक पक्ष बीतने पर बद्ध गुदोदर एवं जल उत्पन्न होने पर सभी उदर रोग असाध्य माने जाते है। जिसके नेत्रों में शोथ, लिंग का टेढ़ापन त्वचा गीली एवं पतली, रक्त मांस अग्निबल क्षीण हो गया हो, विरेचन होने पर भी पेट फूलता हो, ऐसा उदर रोगी असाध्य है।

अग्निवल

जठराग्नि क्या है ?

उदर में होने वाली अग्निजठराग्नि नाम से विख्यात है। जो पदार्थ हम खाते हैं पीते हैं, चूसते हैं उन्हें परिपक्क, बना धातु रूप में परिणत करती है, रस रक्त आदि सातों धातु क्रमशः शरीर का पोषण करते हैं तथा कान्ति बल सौन्दर्य

शारीरिक वल मानसिक बल आध्यात्मिक बल देकर शरीरको पुष्ट करती हैं। इसके विपरीत जब यह विकृत होती है, तब रोगों की परम्परा प्रारम्भ होती है। कारण स्पष्ट है, अग्नि बल क्षीण होने पर मल दूषित हो जायेगा। वही मल कुपित होकर रोगों की परम्परा को जन्म देने में सहायक सिद्ध होंगे।

जैसे=सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः

सब रोगों का निदान मलों का कुपित होना है। अतः अग्निवल की ओर विशेष ध्यान देना उपयुक्त है—

प्रकार

जठराग्नि के ४ भेद माने है। बात की अधिकता से विषाग्नि, पित्तकी अधिकता से तीक्षणाग्नि, कफ की अधिकता से मन्दाग्नि, तीनों की समता से समाग्नि, इसप्रकार इसके चार भेद हैं।

पाचन क्रिया तीनों के सम्यक सहयोग में उचित रूप से संचालित होती है। इनकी समावस्था अग्नि को सम रखती है। जिससे भोजन का परिपाक भलीभांति होकर धातुओं का पोषण होता है। किन्तु इनकी विषमता, मन्द तीक्ष्ण, विषम हो जाती है। जिसप्रकार भोजन बनाते समय अग्नि यदि अति मंद होगी तो भोजन कच्चा रह जायगा यदि तेज होगी तो भोजन जल जायगा। अतः सम अग्नि ही भोजन के परिपाक में उचित है। यही स्थिति जठराग्नि के विषय में भी लागू होती है।

विषमाग्नि वातरोग, तीक्षणाग्नि पित्तरोग, मण्दाग्नि कफ रोगों को उत्पन्न करती है। अर्थात अग्नि जिस दोष से दूषित होती है, उसी के लक्षण प्रकट होते हैं। जैसे विषमाग्नि आध्मान

शूल आदि बात रोग प्रधान लक्षण उत्पन्न करती है। तीक्ष-णाग्नि दाह तृणा आदि पित्तज, एवं मंदाग्नि गुरुता उत्क्लेद आदि कफ के लक्षण उत्पन्न करती है।

समाग्नि—समाग्नि भोजन की सम मात्रा को ही पूर्ण रुपेण पचन कर सकती है, अधिक मात्रा नहीं।

विषमाग्नि—वाताधिक्य से होती है, बात चंचल गति है, पित्त तथा कफ पंगु होने के कारण इसके आधीन है। जब वायु शान्त रहता है, तब पाचन भली भांति हो जाता है। किन्तु जब वह पित्त, कफ, अथवा भुक्त पदार्थ को क्षुब्ध करने लगता है, तब पाचन क्रिया विकृत हो जाती है। इस दशा में कभी मंदाग्नि कभी समाग्नि के लक्षण प्रतीत होते हैं।

तीक्ष्णाग्नि— पित्त की अधिकता से तीक्ष्णाग्नि होती है। अग्नि पित्त का एक स्वरूप पाचक पित्त है, पित्त की अधिकता से सम अथवा अधिक मात्रा अवश्य पच जाती है। किन्तु सम्पकतया नहीं। अतः तीक्ष्णाग्नि, परिपाक में समुचित नहीं, कारण रस क्रिया समाग्नि से ही सही होती है।

मंदाग्नि—कफाधिक्य से मंदाग्नि होती है। कफ की वृद्धि के कारण पाचक रसों का स्राव भली प्रकार नही हो पाता, यदि थोड़ा होता भी है तो भुक्त पदार्थ कफ से आच्छादित होने से पाचक रसों की क्रिया नहीं होती इसी कारण थोड़ी मात्रा भी नहीं पचती।

महर्षि चरक के मत से भोजन की सम मात्रा आमाशय का तृतीय भाग पूर्ण हो, तथा दूसरा तीसरा भाग जल के लिए रहें, अन्य भाग बातादि के संचार के लिए रहें—यही जीवन

के लिए सुखकर है। कैन्सरादि रोग अग्नि की विकृत अवस्था के कारण ही जन्म लेते है। महर्षिचरक निम्न उपदेश देते हुए स्पष्ट करते हैं।

मात्राशी स्यात्, हिताशी स्यात् काल भोजी जितेन्द्रिय:।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्।

च० नि० ६

बुद्धिमान व्यक्ति विषमाशन (नियम विरुद्ध भोजन) से होने वाले अनेक कष्ट प्रद रोगों को देखता हुआ. अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर उचित मात्रा में हितकर सुपाच्य भोजन समय पर करें। यहां उचित मात्रा का कथन, भोजन की जितनी मात्रा बिना किसी कष्ट के यथा समय पचन हो जाय उतनी ही मात्रा में भोजन उपयुक्त है। शरीर रंचना के आधार पर भिन्न-२ व्यक्तियों के लिए भिन्न-२ मात्रा है। इसलिए निश्चित समय पर पचन होने वाली मात्रा का ही ग्रहण करना चाहिये। नापतौल वाली मात्रा दोषपूर्ण होने से अग्राह्य है।
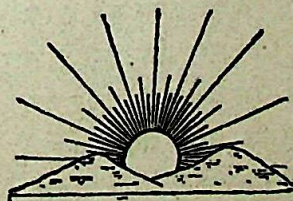
गलगण्ड

निबद्धः श्वपथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान् वा यदिवा ह्रस्वो ग़लगण्डं तमादिशेत् ॥

नियमित शोथ जो गले में अण्डकोष के समान लटकता है, वह बड़ा हो अथवा छोटा उसे गलगण्ड कहते हैं। यह गलगंड दोष भेद से वातज कफज तथा मेद दुष्टी के कारण होता है।

गण्डमाला—

कर्कन्धु कोलामलक प्रमार्णैः
कक्षा समन्यागल वंक्षणेषु।
मेदः कफाभ्याँ चिर मंद पाकैः,
स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गन्डैः ॥

मेद एवं कफ के प्रकोप से कक्षा (बगल काँख) अंश (कंधा) मन्या (गले का उपरि भाग) गले और वंक्षण (रान) प्रदेशों में जंगली बेर के समान अथवा आंवले के समान आकार वाली अधिक काल में मंद वेग से पकने वाली बहुत सी गांठें गंड माला के नाम से विख्यात की गई है और यही गांठें पक कर स्राव करती हैं, और नष्ट हो जाती है, तथा उसी स्थान पर दूसरी हो जाती हैं। इस प्रकार वे चिर काल तक क्रम रखती हैं। इस स्थिति में इनका नाम अपचि कहा है। ये प्रारम्भ में कुशल चिकित्सा द्वारा साध्य हैं। पर पीनस, पार्श्व शूल, कास, ज्वर आदि यदि हो तो इन्हें असाध्य माना है।

ग्रन्थि –

वातादयो मांस मसृक् प्रदूष्य,
संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्च।
वृत्तोन्नतं विग्रथितं च शोथं,
कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः॥

कुपित हुए वातादि दोष मांस, रक्त, मेद, तथा सिराओं को दूषित कर के गोल उभारदार गांठयुक्त शोथ उत्पन्न करते हैं। यह शोथ गांठ दार होने से इसकी संज्ञा ग्रन्थि रखी गई है। यह भी वातज, पित्तज, कफज, मेदोज, सिराज रूप से पांच प्रकार की होती हैं। अन्य स्थानों की साध्य तथा मर्म स्थानों में हुई असाध्य मानी हैं।

अर्बुद (कैन्सर) कर्कट,

कैन्सर क्या है ?

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका नाम सुनते ही रोगी चेतना शून्य हो जाता है। आज संसार में इस रोग से मरने वालों की संख्या अत्यधिक है, यह रोग जठराग्नि के विकृत होने से उत्पन्न होता है। जिसका वर्णन अग्नि प्रकरण में कर चुके हैं। इसका मूल कारण अग्नि का मंद होना है। दूषी विष एकत्रित होकर शरीर के जिस स्थान पर भी अपना प्रभाव जमाता है, वहीं उसी स्थान का कैन्सर हो जाता है। यह त्रिदोषज व्याधी है। तीनों दोषों के विकृत होने से शरीर में विकृति आती है, तथा इस रोग के अंकुर प्रस्फुटित होने लगते हैं। यथा—

गात्र प्रदेशे क्वचिदेव दोषाः,
संमूर्च्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्द रुजं महान्तम्,
अनल्पमूलं चिर वृद्ध पाकम्।
कुर्वन्ति मांसो च्छ्रयमत्यगाधं,
तदर्बुदं शास्त्र विदो वदन्ति॥
वातेन पित्तेन कफेन चापि,
रक्तेन मांसेन च मेदसा वा।
तज्जायते तस्य च लक्षणानि,
ग्रन्थे समानानि सदा भवन्ति।

अत्यन्त कुपित हुए दोष शरीर में किसी भी स्थान पर मांस और रक्त को अत्यन्त दूषित करके, गोल, स्थिर, मंद पीड़ा करने वाली बड़ी, गहरी जड़ वाली, चिर काल में पकने वाली अथवा न पकने वाली तथा अत्यन्त गहरी मांस वृद्धि करते हैं। इसे विद्वान लोग अर्बुद के नाम से पुकारते हैं।

यह वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज, मेदज आदि प्रकार से अनेक विध होता है। इसके लक्षण सदैव ग्रन्थि रोग के लक्षणों के समान होते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि आठ जिन महा व्याधियों का हम वर्णन कर आये हैं, उन सबकी कड़ी इस रोग को उत्पन्न करने में पूर्ण सहयोगी है। अतः उनका विमर्श कर कारण का अच्छी प्रकार उहापोह कर निर्णय देना उपयुक्त है। उक्त रोगों का इसके साथ अन्योन्याश्रय संबंध है। अर्थात्, अर्श विकृति में मलाशय गत, ग्रन्थ्यर्बुद, अंकुरित ग्रन्थ्यर्बुद, अंकुरार्बुद, सौत्रार्बुद गुर्दोष्ठ में उपकलार्बुद, मलाशय का कर्कटार्बुद, आदि एवं मेह रोगजन्य मेहपीड़िकायें

जिनका वर्णन मेह प्रकरण में कर चुके हैं। 'ये सब कैन्सर का ही रूप है इसी आधार पर गलगंड, अपची, गंडमाला, ग्रंथि, विकृतरूप होने पर कैन्सर ही हैं। कैन्सर नाम आधुनिक विज्ञान वेत्ताओं ने दिया है। आयुर्वेद में इसे कर्कटार्बुद के नाम से उल्लेख किया है, और इसकी चिकित्सा में त्रिदोष वाद को ही मुख्य माना है। कारण आयुर्वेद का आधार स्तम्भ त्रिदोषवाद ही है। पाश्चात्य इनके अनेक नामकरण करें, फिर भी सिद्धान्तरूप से त्रिदोष का ही अवलम्बन लेना पड़ता है। त्रिदोष की समतावस्था ही स्वास्थ्य कर है।

रक्तार्बुद :—

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिराश्च,
संकुच्य संपिण्डय ततस्त्वपाकम्।
सास्रावमुन्नह्यति मांस पिण्डं,
मांसांकुरैरांचितमाशुवृद्धिम्।
करोत्यजस्रं रुधिर प्रवृत्तिम्,
असाध्यमेतत् रुधिरात्मकस्तु।
रक्तक्षयोपद्रव पीडितत्वात्,
पाण्डुर्भवेदर्बुद पीडितस्तु॥

अत्यन्त कुपित दोष रक्त और सिराओं को संकुचित (सिकोड़) कर तथा पिण्डित, (पिण्ड रूप) करके न पकने वाले स्रावयुक्त मांसांकुरों से व्याप्त एवं शीघ्र बढ़ जाने वाले मांस पिंड को उभार देता है। इस में निरन्तर रक्तस्राव होता रहता है। अतः यह रक्तज अर्बुद असाध्य माना है। इस अर्बुद से

पीड़ित व्यक्ति रक्तक्षय के उपद्रवों से पीडित रहने के कारण पीला हो जाता है।

माँसार्बुद—

मुष्टि प्रहारादिभि र्रदितेङ्गे,
मांसं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोथम्।
अवेदनं स्निग्ध मनन्य वर्णम्,
अपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्।
प्रदुष्ट मांसस्य नरस्य गाढम्,
एतद्भवेन्मांस परायणस्य॥

मुष्टि आदि के प्रहार से पीड़ित अङ्ग में मांस अत्यन्त दूषित होकर वेदना रहित स्निग्ध समान वर्ण वाला न पकने वाला पत्थर के समान (कठोर) अचाल्य, जो खिसकाया न जा सके ऐसा शोथ उत्पन्न करता है। नित्य मांस सेवन करने से जिनका मांस दूषित हो जाता है। उनका यह मांसार्बुद असाध्य कहा गया है।

अध्यर्बुद—

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्व जाते,
ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।
यद् द्वन्द जातं युग पत् क्रमाद्वा।
द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम्॥

पहले उत्पन्न हुए अर्बुद में यदि दूसरा उत्पन्न हो, उसे अर्बुदज्ञ अध्यर्बुद मानते हैं। यदि दो एक साथ या एक के बाद एक उत्पन्न हों तो उन्हें द्विरर्बुद कहा जाता है। ये असाध्य हैं।

कर्कटार्बुद—

यह अर्बुद उपकला में उत्पन्न होता है, इसका सम्बन्ध लसवाहिनी सिराओं से होता है। यह प्रायः त्वचा आमाशय वृहदन्त्र स्तन और जननेन्द्रियों में—तथा पिताशय अवटुका ग्रन्थि, पौरुष ग्रन्थि, एवं मूत्राशय, मलाशय में होता है। अधिक धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों में मुख तथा श्वास नलिका के किसी भी भाग में हो सकता है।

स्त्रियों में गर्भाशय तथा स्तन का कर्कटार्बुद, प्रायः पाया जाता है।

प्रायः कर्कटार्बुद की उत्पत्ति प्रारम्भ में छोटी कणिका के रूप में देखी गई है। यह धीरे २ बाहर और भीतर समान रूप से बढ़ने लगती है। ऊपर पहले गोभी के फूल के आकार की बनती है। और नीचे त्वचा मांस मेद आदि में अत्यन्त कठोरता एवं मोटापन लिए होती है। यह स्थिति आमाशयगत सामान्यतः पाई जाती है, धातुओं में मोटापन आ जाता है। उपरि भाग में व्रण होकर रक्तस्राव होने लगता है। अधिक रक्त स्राव से या अर्बुदजन्य विष से पाचन संस्थान के अन्य अवयवों की अपेक्षा मलाशय में कर्कटार्बुद की उत्पत्ति कई गुनी होती है। यह गुदौष्ट में भी मल दूषित होने से देखा गया है। प्रायः एक ही कर्कटार्बुद श्लैष्मिक धातु की ग्रन्थियों में उत्पन्न होकर आस-पास की धातुओं में फैलता है। अथवा लसवाहिनियों या रक्त वाहिनियों द्वारा दूर २ की धातुओं में फैलता है। कभी-कभी एक स्थान पर ही दो स्वतन्त्र अर्बुद पाये गये हैं। आकार में प्रायः गोभी के फूल से मिलता-जुलता होता है। मलाशय का

अर्बुद प्रायः भीतर की ओर ही होता है। मलाशय एवं श्रोणीय वृहदन्त्र कर्कटार्बुद का प्रिय स्थल है। प्रारम्भ में उदर एवं मलाशय में भारीपन होता है रोगी बार-बार शौच जाता है, मल के साथ थोड़ा रक्त, कफ एवं वायु निकलते हैं। पीड़ा एव मरोड़ होती है। बार-बार शौच जाने पर भी मलाशय हल्का नहीं होता। रोगी (बवासीर) का अनुमान कर अपना दैनिक कार्य-क्रम चलाता रहता है। इधर विशेष ध्यान नहीं देता। कभी २ अतिसार रक्तातिसार से पीड़ित होता है। समय-समय पर कुछ शान्ति मिलने पर इधर से ध्यान हट जाता है। अर्बुद धीरे २ बढ़ता रहता है। मलाशय संकुचित हो जाता है, कभी २ मलाशय पूर्ण रुक जाता है। कभी २ अवरोध थोड़ा होता है! इसके विष के फैलने पर रोगी की दशा अत्यन्त क्षीण हो जाती है।

गुदौष्ठ में व्रण या गुदचीर द्वारा भी कर्कटार्बुद की उत्पत्ति देखी गई है। गुदा में भयंकर खुजली, मलत्याग अनैच्छिक इसकी गति अन्दर की ओर होने से मलावरोध नीचे को होने से बार २ शौच जाना पड़ता है। यह अर्बुद मलाशय के बाहर से ही दिखाई देता है। शरीर क्रियाओं में अवरोध उत्पन्न होता है। तदनन्तर रोगी काल कवलित हो जाता है। यहां यह विचारणीय है कि चिकित्सकों का ध्यान आभ्यन्तर रक्तस्राव होने पर ही इस ओर जाना चाहिये, किसी भी स्थान से यदि लगातार रक्तस्राव हो कर्कटार्बुद का संदेह है। उसका परिज्ञान आवश्यक है। निदान होने पर शीघ्र चिकित्सा करनी चाहिये। यदि विलम्ब हुआ तो ये तोफानमेल की गति से कहीं का

कहीं पहुँच जाता है। फिर कुछ हाथ नहीं आता, जब गाड़ी सिगनल पार कर गई तो रुकती नहीं।

आमाशय का कैन्सर—

अम्ल पित्त के अधिक समय रहने पर आमाशय गत पित्त विकृत होकर छाले पड़ जाते हैं। कुछ समय बाद चिकित्सा की विपरीतता से कैन्सर का जन्म हो जाता है।

मर्म स्थान का कैंसर—

मानव शरीर में १०७ मर्म स्थान माने है। इन में थोड़ा भी आघात हो, विशेष प्रतीत होता है। प्रायः कैंसर के लिए यह स्थान प्रिय हैं।

रुग्ण स्थान पर प्रारम्भ में सड़न उत्पन्न होकर दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। त्रिदोष तथा धातुएँ मल सब विकृत हो जाते हैं। जठराग्नि तो पूर्व ही विकृत है। अतः जब तक रोग के कारण एवं चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है तब तक रोग अतिशीघ्रतया रोगी के प्राणों का कवल कर लेता है।

मांसाहार से कैंसर—

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपकुश गल शुण्डिकाऽलजी मांस संघातौष्ठ प्रकोप गलगंड गंडमाला प्रभृत्यो मांस दोषजाः। (चरक)

मांस खाने से मांस बढ़ता है। मांस वृद्धि होने पर विकृत दोष मिश्रित हो अधिमांस, अर्बुद, गलशुण्डिका, अलजी, अधिजिह्वा, अर्श, उपकुश आदि महा भयंकर कैन्सर रोगों को उत्पन्न करते हैं। कैन्सर का प्रधान स्थान मांस है। शाकाहारी मनुष्य से मांसा-

हारी का मांस अधिक दूषित होता है। अतः मांसाहारियों को प्रायः कैन्सर होता है। मांसाहार, विलासी जीवन, जो आज के युग के प्रधान अंग हैं, जिससे व्यर्थ में शरीर के मुख्य घटक शुक्र का नाश होता है। इससे बुद्धि, शरीर, आत्मबल सब नष्ट हो जाते हैं। विरुद्ध भोजन मिलावटी खाद्य पदार्थ भी इस रोग के बढ़ाने में मुख्य कारण हैं। विरुद्ध भोजन से रासायनिक क्रिया धीरे २ होती है। जब यह विकृति अधिक बढ़ जाती है, तब रोगी को प्रतीत होता है, फिर कुछ बनाये नहीं बनता। कारण स्थिति गम्भीर हो चुकी होती है।

सिर का कैंसर—

सिर के १८ रोग माने हैं। मस्तिष्क में विद्रधि का होना कैन्सर है।

यथा—दोषोदयं ब्रूयात् पिडिकार्बुद विद्रधीन्। (अष्टाङ्ग) जिस दोष को लेकर विद्रधी होती है। प्राधान्य उसी का होगा। महर्षि वाग् भट्ट ने इसे स्पष्ट किया है। यह चींटियों के बिल के समान आकृति वाली खोपड़ी में चिपकी दोष भेद से दारुण कैन्सर है। इस में स्मृति भ्रंश, हाथ पैरों का भूठा पड़ जाना, तीव्र वेदना होना, नींद न आना, धीरे २ रोगी कृश होता जाता है। भूख बिल्कुल बंद हो जाती है। इसके साथ रोगी को ज्वर होने से असाध्य हो जाता है। इसकी चिकित्सा में नस्य कर्म विहित है।

रोहिडा आदि क्वाथ (चिकित्सा प्रकरण) आदि से मस्तिष्क के कैन्सर में लाभ होता है।

मुँह का कैंसर—

यह शरीर का उत्तमाङ्ग माना जाता है। इसके ६७ रोग हैं। ओष्ट में ८, मसूड़ों में १६, दांतों में आठ, जिह्वा में ५, तालु में ९, गले में १८, मुँह में ३ रोग होते हैं। दोनों ओष्ठ मसूड़ा, दाँत, जिह्वा, तालु और गला इन सात अङ्गों के समूह का नाम मुख है। इसमें होने वाला कैन्सर असाध्य है।

कारण-शरीर के हर अङ्ग में औषधी लग सकती है। पट्टी ओषधी आदि का प्रयोग हो सकता है। पर यहाँ औषध प्रयोग पट्टी आदि का प्रयोग नहीं हो सकता। आयुर्वेद का सर्वोत्तम प्रयोग पंचकर्म भी इस में नहीं हो सकता। वमन विरेचन के वेग को मुख रोगी सहन नहीं कर सकता अतः इसमें औषध प्रयोग बड़ी कठिनता से ही हो पाता है। यहां रहने वाली मांस पेशी जब गलने लगती है, तब उसका भरना सड़न बन्द होना असम्भवसा है, कारण लाला ग्रन्थि अपनी ऊष्मा से इसे बढ़ायेगी ही कम नहीं कर सकती, प्रसारण गुण धर्म वाली होने से।

श्वास नलिका का कैंसर—

श्वास नलिका को प्राण वह स्रोत माना है, इसकी विकृति कैन्सर उत्पन्न करती है। जब तक स्रोतों में विकार नहीं आयेगा कैन्सर नहीं होगा। महर्षि चरक इसको इस प्रकार स्पष्ट करते हैं।

तदेषां स्रोतसां प्रकृति भूतत्वान्न विकारै रूपसृज्यते शरीरम्।
(चरक)

मसूढों में होने वाला त्रिदोषजन्य रोग शौषिर नाम से विख्यात है। इन्हें कैन्सर की सँज्ञा दी है। ये असाध्य हैं। दांतों

में होने वाले श्याव दन्तक, दालन, भंजनक, इन तीनों को कैन्सर माना है। जिह्वागत विकारों को कैन्सर माना है। तालवार्बुद, तालुगत होता है। गले में होने वाले रोग स्वरघ्न वलय, वृन्द, वलास, विदारी, गलौन्ध, मांसतान, शतघ्नि रोहिणी, इन्हें कैन्सर कहा है।

सभी कैन्सरों में, मुख में होने वोले कैन्सरों को असाध्य मानते हैं। मुंह का कैन्सर शीघ्र पक जाता है। पकने के बाद उसका ठीक होना कठिन है। कारण कि मुंह में पट्टी आदि का प्रयोग नहीं हो सकता साथ ही मुख में से लाला स्राव निरन्तर होता रहता है, उसमें होने वाला खटिक रस घाव को भरने नहीं देता अतः मुख का कैन्सर असाध्य है। इसमें कवल ग्रहण एवं नस्य ही उपयुक्त है।

नस्य के लिए निगुण्डी तैल, अणुतैल कवल ग्रहण के लिएं त्रिफला, पीपल हल्दी, मुलहटी का प्रयोग हितावह है। उपजिह्वा शोथ में चित्रक त्रिकटु, हरड़ तथा यवक्षार से पकाया तैल प्रयुक्त करना चाहिये। हरिद्रा, लोध नागर मोथा मधु मिलाकर कवल ग्रहण करावें। औषधी प्रयोग में शिलाजतु, गूगल, लोह गोमूत्र, मुलहटी, पीपल अदि का प्रयोग सुख कर है।

श्वास नलिका का कैंसर—

प्राणवह स्रोत का उत्पत्ति स्थान हृदय तथा उदर है। जिस समय प्राणवह स्रोत बिगड़ता है, तभी रोग उत्पन्न होता है।

श्वास की गति बढ़ जाना, शूल के साथ श्वास लेना यह श्वास नली के कैंसर के लक्षण हैं। इसी विषय को महर्षि चरक यों स्पष्ट करते हैं।

क्षयात् संधारणाद्रौक्ष्याध्यायामात्क्षुधितस्य च।
प्राण वाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः,
अति प्रवृत्ति सगो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्ग गमनं वाऽपि स्रोतसां दुष्टि लक्षणम् ॥
(चरक)

धातुओं का क्षय, वेगों का रुकना शरीर का रुक्ष हो जाना, अति परिश्रम, भूखा रहना, इन से वात प्रकोप होता है। इससे श्वास नली का कैन्सर होता है।

स्रोतों में रसादि धातु अति बहने लगें या रुक जायें या स्रोतों में ग्रन्थि हो जाय, या स्रोतवहा धातुऐं विमार्ग गामी (उल्टी) बहने लगें तब स्रोत विकृति होती है। श्वास नली के कैन्सर की चिकित्सा श्वास रोग की चिकित्सा के समान करे। जल वह स्रोत की चिकित्सा तृषा रोग के अनुसार करें। और अन्न प्रणाली के कैन्सर की आम दोष की चिकित्सा के समान करनी चाहिये। कैन्सर रोग में स्नान वर्जित है। अर्क (अर्बुदबाण) (चिकित्सा प्रकरण में) पिलाना चाहिये। इस रोग में बरफ (ठंडी वस्तु) मिठाई तेल में पकी चीजें तिल, उड़द, मूंगफली, दही, छाछ, दूध, घी, गुड़, शक्कर, गन्ने का रस आदि न लें। रोगी को चावल, दाल, हरी सब्जी, बकरी का दूध प्रयोग करावें। अमृत मंजरी रस २-२ रत्ती मधु तुलसी अद्रक के रस के साथ दें। प्रारम्भिक स्थिति में रोग साध्य होता है। अधिक समय निकलने पर असाध्य हो जाता है।

अन्न नली का कैन्सर—

अन्न नली को अन्न वह स्रोत कहा है। अन्न वह स्रोत आमाशय है।

अम्ल पित्त जैसे रोगों से आमाशय में आया हुआ पित्त ऊपर जाता है। अतः पित्त की गर्मी से छाला पड़ जाता है, अति भोजन, विदग्धाजीर्ण, समय बीतने पर भोजन प्रकृति विरुद्ध भोजन, जठराग्नि मन्द या विषम हो जाने से अन्न वाही स्रोत बिगड़ते हैं। आमाशय गत वात विकृति में अन्न नली में विशेष अवरोध हो जाता है, हर समय वायु की गति विपरीत बनी रहती है। आमाशय गत विकृत वायु अन्न नली को सुखा देता है। अर्थात् अन्न नली सिकुड़ जाती है।

आमाशये तृड्वमथु श्वास कास विसूचिका,
कण्ठोपराधमुद्गारान् व्याधीनूर्ध्वं च नाभितः।

अमाशय में प्रकुपित वायु प्यास वमन श्वास कास विसूचिका (वमन) गले के भाग को बंदकर डकार तथा नाभी के ऊपर के भागों में भयंकर रोग उत्पन्न कर देता है। जिससे रोगी एक कौर भी खाले तो वह वैसा का वैसा निकल जाता है, खाने की इच्छा नहीं होती। अरुचि हो जाती है। अम्लपित्त जन्य अन्न नली कैन्सर में भोजन का न पचना, घबराहट, खट्टी डकारें, जलन, अरोचक, वमन, प्यास, मूर्च्छा, भ्रम मोह, ज्वर, प्रसेक (बार-बार थूकना) आदि इस के लक्षण हैं।

स्तन कैंसर—

यह महिलाओं, में स्तन में ग्रन्थि ब्रण दुष्ट ब्रण नाड़ी ब्रण सद्यो ब्रण ग्रन्थि पिडिका विद्रधि रक्तब्रण इन में से किसी प्रकार का रोग हो जाने की सम्भावना रहती है। प्रसूतावस्था में दुग्धवाहिनी में अवरोध हो जाने से या चोट लग जाने से कैन्सर हो जाता है। प्रारम्भ में यह अच्छा हो सकता है, पक जाने पर बाहर फूट जाने पर भी अच्छा हो जाता है। सर्वप्रथम स्तन में ग्रन्थि होती है, आहार विहार की अज्ञानता से दोष एवं धातु

बिगड़ने लगते हैं। यह साधारण बनी ग्रन्थि आगे चलकर भयंकर कैन्सर बन जाती है। स्तन्याशय, गर्भाशय ये स्त्रियों में ही होते हैं। इन दोनों का विशेष सम्बन्ध है। गर्भावस्था में गर्भाशय बढ़ता है, तभी स्तनों की वृद्धि भी होती जाती है। प्रसव के बाद स्तनों से दूध प्रारम्भ हो जाता है। जो बालक का आहार है। कभी २ प्रसूतावस्था में विकृति आने पर कैन्सर हो जाता है। त्वचा मांस अस्थि स्नायु रक्त और कंडरा के आधार से अधिक वेदनायुक्त लम्बा गोल चींटियों के दर के समान स्रोत वाला अन्दर और बाहर होता है। रुक्ष भोजन, विदाही वासी अन्न टेढी शैय्या शारिरिक उल्टी चेष्टा रक्त विकृति करने वाले विरुद्ध आहार (कुच मर्दन विपरीतता) कुच मर्दन, सम्बन्ध समय उपयुक्त है, पर बहुत धीमी गति से जिससे केवल तरंग ही उत्पन्न हो। जिससे सहवास आनन्ददायक होगा। पर यदि कठिनता से जबर्दस्ती कुचमर्दन किया गया तो कैन्सर का कारण बन सकता है। बाहर को फूटने पर इसकी चिकित्सा में सफलता मिल सकती है।

कैन्सर को पकाना नहीं चाहिये। कच्चा ही मिटाने की चेष्टा की जाये। गर्भाशयगत कैन्सर में शोधन प्रक्षालन करना उपयुक्त है।

उपरिवर्णित जितने प्रकार के भी कैन्सर हैं सभी में दोष-विकृति प्रधान है। अतः त्रिदोष चिकित्सा ही यहाँ प्रधान है। हर अङ्ग उपाङ्ग में यह हो सकता है, विस्तार की आवश्यकता नहीं, इसका मूल सूत्र दोष निवृत्ति ही है। इसके लिए आयुर्वेद का सर्वोत्तम कर्म, पंचकर्म है। जिसका वर्णन आगे करेंगे। पंचकर्म से किसी प्रकार का भी रोग रह नहीं सकता। कारण पंचकर्म से त्रिदोष साम्यावस्था में आ जाता है जो स्वास्थ्य का लक्षण हैं। ★

धातु

ताम्र तारारनागाश्च हेम वंगौ च तीक्षणम् ।
कांस्यकं कान्त लौहं च धातवो नव ये स्मृताः ।।

ताम्र, रजत, यशद, नाग, स्वर्ण, वंग, तीक्ष्ण लोह, कांसी तथा कान्त लोह, ये नौ धातु हैं। इनकी भस्मों का प्रयोग शास्त्रकारों ने बड़े विचार विनिमय के साथ किया है। ये भस्में अवस्थानुकूल अनुपान भेद से प्रयोग की गई शरीर के लिए विशेष उपकारी होती हैं। हां यदि शास्त्र मर्यादा के विपरीत अपक्व दे दीजाय तो शरीर के विनाश का कारण भी बन सकती है। जैसे—**न विषं विषमित्याहु विषं हि ताम्र मुच्यते ।**

विष को विष नहीं कहते बल्कि ताम्र को विष कहते हैं। यह उक्ति यथार्थ है। जब तक भस्म परिपक्व न हो तब तक उपयोग नहीं करना चाहिये। परिपक्व तथा विधिपूर्वक की गई भस्म सदा लाभप्रद अमृत स्वरूप होती है।

धातु उपधातु आदि की भस्म करने का भाव उनके सूक्ष्म परमाणुओं को सूक्ष्मतर बनाना हैं। जिससे सेवन कर्ता के शरीर में उपकारी हो सकें। हानिप्रद न हों। धातु उपधातुओं के परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म हो जाये तथा उनमें दी गई जड़ीबूटियों की भावना गुण वर्धक हो, इस प्रकार सेन्द्रिय स्वरूप की कल्पना करना ही भस्म बनाने का उद्देश्य है। न कि इनकी राख बनाना (राख और भस्म में विशेष अन्तर है)। धातु उपधातु को शरीर का उपयोगी अंग बनाना ही यहीं आयुर्वेद मनीषियों का लक्ष्य

रहा है। कारण शरीर में जिस धातु या उपधातु की कमी से शरीर रुग्ण हुआ। उसी धातु या उपधातु के द्वारा उसकी पूर्ति करना शरीर के लिए उपयोगी होगा।

भस्म अतितेजस्वी, वीर्यवान्, अति गतिमान होने से सदा फलदायी हैं। भस्म बनाने में भावना का प्रयोग धातु के साथ इस प्रकार कराया जाता है। जिससे भस्म अपने मूलतत्व को न त्यागते हुए शरीर के लिए उपकारी होती है। जिस भस्म में जितने पुट देने के लिए लिखा है, उससे कम पुट नहीं देने चाहिये। १ या २ पुट की भस्म अपरिपक्व होने से परिहेय हैं।

पुट—मूल धातु की भस्म बनाने के लिए जिन भावना द्रव्यों से धातु को साधित किया जाता है, उसे पुट कहते हैं। जैसे—अभ्रक भस्म बनाने के लिए प्रथम अभ्रक को शुद्ध कर, चांगेरी, पुनर्नवा आदि की जो भावना दी जायगी, उसके बाद अग्नि दे ने को पुट कहेंगे। इस प्रकार जितनी बार औषधी की भावना दे कर टिकिया बना सूर्यताप में सुखा अग्नि दी जायगी, उतने पुट वाली वह भस्म होगी—जैसे अभ्रक १० पुटी १०० पुटी १००० पुटी, उत्तरोत्तर गुणवती होती है। साधारण भस्में थोड़ी अग्नि से ही बनती हैं। धातु उपधातुओं को परिशुद्ध कर भस्म बनानी चाहिये। जितना शोधन उत्तम होगा उतनी ही भस्म भी वीर्यवती तथा बलशाली होगी। आज के वैज्ञानिक विद्युत ताप में सद्यः भस्म बनाते हैं। वह शरीर के लिए पोषक नहीं वरन् राख है, शरीर के घटकों को हानि कर ही है। पूर्ण विधान से बनाई गई भस्म सद्यः लाभ कर तथा शरीर पुष्टी कर है।

ताम्र—

यह धातु सूर्य प्रधान हैं, अर्थात् इसके अधिष्ठातृदेव सूर्य हैं। सूर्यपरक व्याधियों में ताम्र सेवन सद्यः लाभकारी है।

शोधन—

ताम्र के अच्छे पतरे ले गरम कर, 'तैलेतक्रे गवां मूत्रे, त्रिफलायां विशेषतः" तैल, तक्र, गोमूत्र, काँजी और त्रिफला के क्वाथ, कुलथी का क्वाथ, अनारदाने का रस, मदार के पत्तों का रस इन में सात-सात बार बुझावे। फिर कूट कर चूर्ण बना इमली नमक डाल गोमूत्र में पकावे। शीतल कर चूण को निकाल जल से धो भस्म बनावें।

ताम्र सीधा ताररूपों में, तथा पुराने सिक्कों के रूप में मिलता है। यदि वह न प्राप्त हो तो नीला थोंथा लेकर कूट कर त्रिफला के क्वाथ में पकालें और रख दें पात्र के ऊपर चारों ओर ताम्र लग जायगा। इसे खुरच कर प्रयोग में लें। दूसरी विधी—नीले थोथे को कूट कर जंगली बधुवे के रस में भिगो दें। इससे भी शुद्धताम्र प्राप्त होगा। केचुवे (भूनाग) की भस्म बना ताम्र चीनी के पात्र में डाल पानी डाल दें। धीरे २ धोवे, ताम्र प्राप्त होगा। मयूर चन्द्रिका को भस्म कर, उसे भीं उक्त विधी से पानी में धोवे परि शुद्ध ताम्र मिलेगा। इससे उत्तम ताम्र और नहीं होगा। इनमें से जो भी उपलब्ध हो भस्म बनावें।

भस्म—परिशुद्ध ताम्र को पारद के साथ घोट कर सम भाग गंधक मिला दें। फिर १२ घन्टे खूब रगड़ाई करें। सूक्ष्म चूर्ण होने पर कूपी पक्व रसायन की विधी से कूपी पाक करे। ऐसा करने से ऊपर के गले में ताम्र सिंदूर तथा निम्न भाग में भस्म

मिलेगी। इससे दो लाभ होंगे, पारद सिन्दूर रूप में मिलेगा तथा ताम्र भस्म परिशुद्ध गुणवती प्राप्त होगी। उसके बाद अधिक पुट दें।

दूसरी विधी—पारद गंदक की कज्जली कर इसमें सम भाग ताम्रचूर्ण डाल घोटें। पूर्ण श्लक्ष्य चूर्ण होने पर चांगेरी के स्वरूप की भावना दें (चांगेरी स्वर से नाऽपि भावयेद्धि पुनः पुनः, तावदेवंतु संमद्यःजलेतरति हंस वत्)। चांगेरी के स्वर से बार २ मर्दन करे (भावनादें)।

यह क्रिया तब तक करे जब तक पानी पर हंस के समान तैरने लगे। इस प्रकार बनाई भस्म सद्यः लाभकारी होती है।

तीसरी विधी—शुद्ध ताम्रचूर्ण को २० तोला पारद २० तो० गंधक, २० तोले शुद्ध वर्की हरताल, १० तोले शुद्ध मैनसिल, ५ तो०। प्रथम पारद और ताम्र को नीम्बू के रस में साधित करे ताम्रचूर्ण श्वेत बनने पर जल से धो कर गंधक मिलादे, कज्जली कर हरताल और मैनसिल मिला खरल करे, पश्चात् सराब संपुटकर, सुखा, बालुका यंत्र में १२ घन्टे अग्नि दें। स्वांग शीतल होने पर संपुट निकाल खरल करें। इसे सोमनाथी ताम्रेश्वर कहते हैं। इसे सूरण (जिमीकन्द) दही, सफेद पुनर्नवा के १०-१० पुट देने से सद्यलाभकारी अमृत तुल्य भस्म बनती है।

गुण—ताम्रं कषायं मधुरं च तिक्त मम्लं च पाके कटु सारकं च।
(आ० प्र०)

ताम्र, कषाय, मधुर तिक्त, अम्ल गुणयुक्त होता है। पाक में कटु तथा सारक होता है। इसकी भस्म—परिणाम शूल, कास,

श्वास, मंदाग्नि अर्श, पाण्डु, प्लीहा, उरः क्षत, मलावरोध उदर विकार, वातरक्त, एवं कफ प्रधान रोगों को विशेष लाभकारी है। कैन्सर कर्कटार्बुद में भी इस का प्रयोग विशेष हितावह है।

ताम्र का मुख्य कार्य शरीर के पिण्डों को सुदृढ़ बनाना है। विशेषतः यकृत् एवं प्लीहा वृद्धि में कार्यकारी है। उदर रोग की उत्पत्ति हृदय यकृत्, वृक्क (गुरदा) इनकी विकृति होने पर होती है। कफवात विकृति को नष्ट करने के लिए ताम्र का प्रयोग करना चाहिए।

प्लीहावृद्धि में ताम्र का प्रयोग अतीव लाभकारी है। गुल्म अष्ठीला आदि में ग्रंथि के लाभ के लिए ताम्र का उपयोग आवश्यक है। रक्त दूषित होने पर माँस ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये ग्रन्थियाँ भिन्न २ स्थानों में हो जाती हैं। इनमें पीड़ा नहीं होती धीरे २ बढ़ती जाती है। तथा नई २ उत्पन्न होती जाती है। इनको नष्ट करने तथा नईयों को रोकने के लिए मदार दुग्ध चूर्ण के साथ दिन में ३ बार मधु मिला देते रहने से तथा बाहरी प्रयोग वत्सनाभ, ३ मासा बच, राई १-१ मासा, कपूर ५ रत्ति चूर्ण को गोंद जल में मिला लेप करने से १-२ मास में ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। ताम्र भस्म अति उत्तम बनी ही लेनी चाहिये (न विषं विष मित्याहु विषंहि ताम्र मुच्यते)। विष को विष नहीं कहते विष ताम्र को कहते हैं। इसलिए पूर्ण परीक्षा कर ही इसका व्यवहार करे।

चाँदी—

चंद्रमय धातु है, इसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है। यह कफोत्पादक है। 'सूर्य सोमात्म कं जगत्' के आधार पर, जैसे ताम्र पित्त प्रधान होने से चाँदी कफ प्रधान है। प्रदर की यह परमौषधी है।

भस्म—कंटक वेधी चांदी के पतरे ले, रुमीसिंगरफ में घोट कुक्कुट पुट दें। इस प्रकार १० पुट देने से उत्तम रजत भस्म बनेगी। प्रदर रोग से रुग्णा स्त्री को इसका सेवन मक्खन के साथ करना चाहिये, सद्यः लाभप्रद है।

द्वि-रजत चूर्ण पारद गंधक सम भाग मिला वट जटा, गूलर, क्वाथ चमेली के पत्तों का क्वाथ विल्व पत्र का क्वाथ—इन सब की तीन २ भावना देकर सुखा—कूपी पाक विधि से, रजत सिंदूर प्राप्त करें, तथा नीचे चाँदी भस्म मिलेगी। इसमें २१ पुट देकर भस्म बना लें। यह भस्म सब प्रकार के प्रमेह प्रदर मस्तिष्क विकार अतिउष्णता भ्रम उन्माद आदि रोगों की परमौषधी है।

रौप्यं विपाक मधुरं तुवराम्लसारं शीतं सरं परम लेखनकं च रुच्यम् र० र० सं०—

रौप्य विपाक में मधुर अम्ल, शीतल, सर, परम लेखन करने वाली तथा रुचि वर्धक है।

गुण—यह भस्म मानसिक दोष उष्णता, अन्त्र दोष, प्रदाह प्रसूत बात, प्रलाप, भय, कम्पन निस्तेजता उदासीनता अनिमेष दृष्टी भोजन की अनिच्छा आदि पर रौप्य भस्म ब्राह्मी शर्बत्—या आँवले के मुरब्बे के साथ लेना चाहिये। इससे सब विकार शमन हो जाते हैं।

रजत रसायन—

रजत भस्म १ तो० अकीकपिष्टी १ तो० जहर मोहरा खताई १ तो० मुक्ता शुक्ति पिष्टी २ तो० प्रवाल पिष्टी १ तो० अमृता सत्व २ तो०। सब को एकत्र कर गुलाब जल से घुटाई करें, यहाँ तक २ बोतल गुलाब जल समाप्त हो जाय। सुरक्षित रखे। यह रसायन हृदय स्नायु दौर्बल्य प्रदर आदि पर विशेष अनुभूत है।

लौह—

लौह विपाक में मधुर है।

आयुः प्रदाता बलवीर्यं कर्ता रोगापहर्ता मदनस्य कर्ता।
अयः समानं नहि किंचिदस्ति रसायनं श्रेष्ठतमं नराणाम्।

लौह के समान रसायन मनुष्यों के लिए अन्य नहीं है। यह आयु बलवर्धक हर प्रकार के रोगों को दूर करने वाला, तथा नपुंसकता नाशक है।

भस्म—लौह चूर्ण परिशुद्ध ३ भाग पारद १ भाग गंधक २ भाग ले कज्जली करें। फिर घृत कुमारी के स्वरस की भावना दें गोला बनालें, इसे एरण्ड के पत्रों में लपेट ताम्र या लोहपात्र में रख धूप में रख दें। कुछ देर बाद जब वह गरम हो जाय तब दूसरे शराव से ढक दें। इस पात्र को धान्य राशी में दबा दें। १० दिन बाद निकाल लोह भस्म को वस्त्र पूतकर रख लें। यह वारितर होगी। इसी प्रकार अन्य स्वर्णादि धातुओं की भस्म की जा सकती है। यह भस्म विशेष गुणकारी है। यदि अधिक पुट देने की आवश्यकता प्रतीत हो तो मदार दूध में मैनसिल गंधक घृत कुमारी के स्वरस की भावना दे कर गजपुट दें। भस्म विशेष गुणवती होगी।

दूसरी विधि—शुद्ध लोहचूर्ण को बारहवां हिस्सा हिंगुल मिला घृत कुमारी के रस से १२ घंटे खरलकर २-२ तो० की टिकिया बना सुखा, सम्पुट कर गजपुट दें। इसी प्रकार १२ से १५ पुट देने पर उत्तम लाल रंग की भस्म तैयार होगी। जो रसायन का काम करेगी।

उपयोग—इस भस्म का प्रभाव रक्त पर विशेषरूप से रहता है। अतः पाण्डु प्लीहा यकृत विकारों पर इसका विशेष प्रभाव है। स्त्रियों के प्रदर रोग पर मक्खन के साथ लेने से अमृत तुल्य कायकारी है।

यशद—

यशदं तुवरं तिक्तं शीतलं कफ पित्तहृत्।

यशद तिक्त शीतल कफ एवं पित्त को दूर करने वाला है। इसका विपाक मधुर होता है।

भस्म—शुद्ध यशद को कढ़ाई में डाल अग्नि पर चढ़ा तीव्र अग्नि दें, लोह की कलछी से चलाते रहें। अग्नि की लपट उठने पर नीम के पत्तों का स्वरस २० तो० धीरे २ डाल। फिर अग्नि की लपटे उठने पर २० तो० रस डालें। इस प्रकार ४ बार में १ सेर स्वरस डाल दें। इसके बाद मिट्टी या लोहे का बर्तन ऊपर ढककर ३ घंटे तीव्र अग्नि दें। उत्तम भस्म तैयार होगी। स्वांग शीतल होने पर, वस्त्र पूतकर ६ घंटे घृत कुमारी के स्वरस में सम्भावित करें। छोटी २ टिकिया बनालें। सुखाकर सम्पुट कर गज पुट दें। इस प्रकार ३० गज पुट देने पर उत्तम भस्म तैयार होगी।

उपयोग—मेह (मधुमेह) ज्वर कास हृदय दौर्बल्य, गंडमाला उदर ग्रंथि आदि व्याधियों पर विशेष अनुभूत है।

वङ्ग—

कलई का विपाक मधुर है।

बंगं भक्षयतो नरस्य न भवेतस्वप्नेऽपि शुक्रक्षयः।

बंग को खाने वाले व्यक्ति का स्वप्न में भी शुक्रक्षय नहींहोता।

भस्म—बंग के वारीक पत्र तैयार कर इमली की छाल तिल मिलाकर चूर्ण तैयार कर १ गोसे पर चूर्ण को विछा ऊपर बंग के टुकड़े रख दें। ऊपर फिर चूर्ण विछा दें। इस प्रकार कई तह कर दें। ऊपर १ गोसा और रख निर्वात स्थान में अग्नि दे दें। खांग शीतल होने पर चुन ले बंग भस्म तैयार है। इसे अनुपान भेद से अनेक रोगों पर व्यवहार करें।

द्वितीय विधि—बंग को शुद्ध कर सम भाग पारद मिला दें, अच्छी प्रकार श्लक्षण चूर्ण होने पर। सम भाग शुद्ध गंधक मिला कज्जली करें। कज्जली होने पर भांग के रस, चाँगेरी के रस, तथा घृत कुमारी के स्वरस की १-१ भावना देकर सुखा लें। पश्चात्—कूपी पाक विधी से कूपी पाक करें, इससे बंग सिंदूर ऊपर गले में मिलेगा। तथा भस्म तल भाग में। निकाल कर वट जटा के क्वाथ की भांग के क्वाथ की भावना दे कर ५ गज पुट दें। इस प्रकार बनाई गई बंग भस्म सर्वोत्तम तथा मधु मेह की परम औषध है। अनुपान भेद से सभी रोगों पर व्यवहार करें। कर्कटार्बुद पर ताम्र भस्म के साथ प्रयोग करें।

नाग—(रांगा)

नागस्तु नागशततुल्य बलं ददाति,
व्याधीं विनाशयति जीवनमातनोति।
वह्नि प्रदीपयति, काम बलं करोति,
मृत्युं च नाशयति संतत सेवितः सः।

नाग भस्म निरन्तर सेवन करने से सौ हाथियों के समान बल देती है। सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करती है। आयुः को बढ़ाती है, जठराग्नि को बढ़ा, काम को पूर्ण करती है। तथा मृत्यु का नाश करती है।

भस्म—परि शुद्ध नाग को मैनसिल और पान के रस से भावित कर शराब संपुट में बन्द कर कुक्कुट पुट में फूक दें। इस प्रकार ३२ पुट देने पर निरुन्थ भस्म प्रस्तुत होगी।

अधिक अग्नि से नाग जीवित होकर पात्र में चिपक जाता है। अतः गज पुट न देकर कुक्कुट पुट ही देनी चाहिये। मैनसिल हरवार चतुर्थांश लें।

द्वितीय विधी—मजबूत मिट्टी पात्र या लौह पात्र ले नाग को द्रव करें। द्रव होने पर पीपल एवं इमली की छाल कुटी हुई लेकर थोड़ा २ डालते जाये, तथा लोह के डंडे से चलाते जावें। इस प्रकार ३ घंटे में नाग भस्म प्रस्तुत होगी। इस भस्म को सम भाग में मैनसिल मिला काँजी की भावना दें अच्छी प्रकार पीसकर छोटी २ टिकिया बना लें। फिर शराब संपुट में रख सुखा वाराह पुट दें। इस प्रकार टिकिया बनाकर कम से कम ५० वार पुट दें। अन्तिम पुट गज पुट दें। विशुद्ध गुणवती भस्म तैयार होगी। यह भस्म उपरोक्त सभी गुणों वाली है।

उपयोग—यह भस्म मधुमेह, अस्थिगतव्रण मज्जागत दोषों को दूर कर शारिरिक घटकों को पुष्ट करती है। अपची, गंड-माला, ग्रन्थि, अर्बुद आदि रोगों पर जब दोष विशेष रूप विकृत हो जाते हैं। तब इस भस्म का प्रयोग हितावह है।

त्रिवंग भस्म—

नाग, बंग, यशद, तीनों धातुओं की एकत्रित भस्म को त्रिबंग के नाम से शास्त्रकारों ने उल्लेख किया है।

इन तीनों को शुद्धकर नागभस्म विधि से भस्म करने पर पीले रंग की उत्तम भस्म तैयार होगी। उपरोक्त रोगों पर

इसका प्रयोग करना श्रेष्ठ है। विशेषतः स्त्रियों के प्रदर को ठीक कर जननेद्रियों के लिए शक्तिदाता है।

स्वर्ण भस्म—

स्वर्णं स्निग्धकषाय तिक्तमधुरं, दोषत्रयध्वसनम्।
शीतं स्वादु रसायनं च रुचिकृच्चक्षुष्यमायुःप्रदम्॥
(आ० प्र०)

स्वर्ण, स्निग्ध, कषाय, तिक्त मधुर, त्रिदोष प्रशमन, शीत, स्वादु एवं रसायन है। आयुः प्रदाता तथा नेत्रों को हितकारी है।

भस्म—स्वर्ण १ भाग पारद ३ भाग गंधक ३ भाग ले कज्जली करें फिर लाल कपास के फूलों के स्वरस की भावना दें सुखालें। फिर ढाक के फूलों के स्वरस या सूखे मिले तो क्वाथ की, बादमें घृत कुमारी स्वरस की भावना दें सुखा आतशी शीशी में भर मंद मध्य तीव्र अग्नि दें कूपीपक्व विधि से पाक करें, ऊपर शीशी के गले में स्वर्ण सिंदूर (चन्द्रोदय) प्राप्त होगा तलस्थ गुलाबी मायल स्वर्ण भस्म मिलेगी।

इस भस्म को केवड़े के क्वाथ, या अर्क गुलाब अर्क, तुलसी यास्वरस, सत्यानाशी स्वरस सब के अर्क या क्वाथ या स्वरस से क्रमशः ५-५ भावना दें कुकुट पुट में भस्म करें। पश्चात् वट जटा के क्वाथ की भावना दें, गजपुट दें। इससे सुन्दर लाल आभायुक्त भस्म तैयार होगी। इसे सब रोगों पर व्यवहार करें। स्वर्ण की अनेक विधि शास्त्र में वर्णित हैं पर हम अपने अनुभव के आधार पर इसी का प्रयोग करते हैं।

उपयोग—क्षय, कास, उन्माद, वाजीकरण दाह, श्वास, प्रदर, उष्ण बात आदि रोगों पर स्वर्ण भस्म का प्रयोग परम हितावह है।

सप्तामृत

उपरोक्त सातों धातुओं को परिशुद्ध कर सम भाग लें, प्रथम कूपी पाक विधि से तदनन्तर, उक्त द्रव्यों की भावना देकर भस्म करें। यह सप्तामृत भस्म योगवाही तथा कर्कटार्बुद जैसी भयंकर व्याधी को नष्ट करने में पूर्ण सफल है। इसका प्रयोग हरीतकी के साथ जिसका वर्णन शास्त्रों में मातृरूप से किया है।

यस्य माता न जीवेत तस्य माता हरीतकी,
कदाचित्कुप्यते माता न कदाचिद् हरीतकी।

जिसकी मां न हो उसकी मां हरड़ है। माता कभी बालक पर क्रुद्ध हो जाती है पर हरीतकी कभी हानि नहीं करती। हमारे अनुदिन के व्यवहार में हरीतकी का प्रयोग होता है। तथा भयंकर से भयंकर रोग इससे शांत हो जाता है। सप्तामृत भस्म आधी रत्ति मधु से चाट ऊपर पाव भर पानी में १ हरड़ प्रातः मिट्टी या चीनी के वर्तन में भिगोदें। सायं मसल उबाल कर १ छटांक पानी शेष रहने पर पीलें। इसी प्रकार प्रातः भिगो दे सायं पीलें। ऐसा करने से किसी भी प्रकार का रोग शरीर में नहीं रहेगा। कर्कटाबुद (कैन्सर) रोग भी कुछ दिन सेवन करने पर शान्त हो जायगा। यदि मनुष्य निरन्तर हरड़ का सेवन करता रहे तो कर्कटार्बुद जैसी भयंकर व्याधी हो ही नहीं सकती।

पारद—

सर्व रोग हरो रसः।

रस (पारद) सब रोगों को हरने वाला है। आयुर्वेद जगत का यह प्राण है।

चिकित्सा जगत में पारद की ही प्रधानता है।

कारण—रसो वै सः—रस ही वह ब्रह्म है। पारद ब्रह्म तथा वलि (गन्धक) प्रकृति है। इन्हीं दोनों के संयोग से रस बनता है। बिना गन्धक के पारद विलीन नहीं होता अतः यहाँ प्रकृति पुरुष का मेल ही रस है। और यही रस जीवन के लिए परमोपयोगी है। जितने भी रसों का निर्माण शास्त्रकारों ने किया है उन सब में पारद, गन्धक का होना नितान्त आवश्यक है। बिना पारद गन्धक के रस बन ही नहीं सकता। रस शब्द इन दोनों का ही बोधक है। जैसे मृत्युंजय रस चतुर्मुख रस आदि किसी का भी उल्लेख करें। सब में इन दोनों का होना अनिवार्य है। जैसे लोक में प्रकृति पुरुष का जोड़ा है। चिकित्सा जगत में भी इन का प्राधान्य है। संसार में जितने भी पदार्थ दृष्टीगोचर होते हैं। उन सब में इनका समावेश है। भौतिक जगत में आप किसी भी पुष्प को लीजिये। यदि उसका वर्ण श्वेत है, तो पारद प्रधान है, यदि अन्य वर्ण प्रधान है जैसे गैन्दा गुलाब तो वलि (गन्धक) प्रधान है। इसीलिए पारद शोधन एवं बंधन में लाल वर्ण गुलाबी वर्ण, उत पीत वर्ण के पुष्पों का प्रयोग किया जाता है।

किसी भी वर्ण के पुष्प को ले पारद में धर्षण कीजिये, पारद नष्ट-पिष्ट हो जायगा कारण उसकी प्रिय वस्तु बलि (गन्धक) उसमें विद्यमान है। मानव शरीर में उत्तमाङ्ग में शरीर के अनुपात से स्वस्थ शरीर में ६ छटांक पारद रहता है। ज्यों २ अवस्था बढ़ती है। इसमें तरलता आती रहती है और मानव अपनी शक्ति का ह्रास अनुभव करता है या रुग्ण हो जाता है। तब रोग के अनुसार रस का प्रयोग कराया जाता है। इस रस के शरीर में पहुंचने पर रस की कमी दूर होते ही मानव स्वस्थ प्रतीत होता है।

मनुष्य की शक्ति निरन्तर क्षीण होती रहती है। उसकी पूर्ति आहार रूपी इन्धन से की जाती है! शरीर के लिए जिस वस्तुकी कमी प्रतीत हो, उसी के देने पर उसकी कमी दूर हो जाती है। पिछले प्रकरणों में हम धातुओं का वर्णन कर आये हैं। यदि किसी भी धातु की कमी प्रतीत हो तो उसे भस्म रूप में देने से वह शरीर के लिए सात्म्य होकर पुष्टीकारक बनती है। उसका समावेश रसरूप में ही होता है। जैसे चन्द्रोदय रस, हेम गर्भ, पोट्टली रस आदि रसों का व्यवहार जीवनदायिनी शक्ति उत्पन्न करता है। यह वद्य की बुद्धि पर निर्भर करता है कि किस स्थिति में कौन रस दिया जाय। यह रोगी की प्रकृति तथा रोग का निदान कर ही प्रयुक्त करना चाहिये।

शोधन—पारद मूलरूप में बाजार से प्राप्त होता है। वह अशुद्ध है। उसमें अनेक दोष होने से उसे परिशुद्ध करना आवश्यक है। अशुद्ध का प्रयोग अनेक रोगों को जन्म दे सकता है। अतः शोधन आवश्यक है।

हमारी परम्परा

एक चौड़े मुख की शीशी लेकर कपड़मिट्टी कर किसी कंकरीले स्थान पर जहाँ बिच्छु प्रतीत हों गाड़ दें। उसमें पारद तल भाग में डाल दें केवल १ चोथाई भाग में ही पारद भरें बांकी खाली रहें। मुख खुला छोड़ दें। एक-दो दिन में उसमें बिच्छु स्वयं घुस जायेंगे तथा पारद को खालेंगे। उसके खाने पर वह मर जायेंगे। बाद में शीशी को निकाल लें। बिच्छुओं को रगड़ लें। पारद पृथक् हो जायगा। उष्णोदक से सावधानी पूर्वक धोलें। पारद शुद्ध तथा बुभुक्षित हो जायगा। इसका व्यवहार सभी रसों में करें।

दूसरी विधिः—१ तो० पारद परिशुद्ध एक अण्डे में रख, कपड़-मिट कर सुखा लें, पश्चात् कुकुटपुट देकर भस्म कर लें। श्वेत भस्म होगी। सभी व्याधियों पर अनुपान भेद से व्यवहार करें।

तृतीय विधिः—चाक मिट्टी, सोना गेरू, ईंट का चूरा सम भाग लेकर, पारद द्विगुण डाल मर्दन करें। अच्छी प्रकार घुट जाने पर डमरु यंत्र में डाल, ६ घटे बबूल की लकड़ी की अग्नि में पकावें, स्वाङ्ग शीतल होने पर यन्त्र को खोल सावधानी से ऊपर वाली हांड़ी में लगी श्वेत भस्म मिलेगी। इसे नाड़ी की क्षीणता आदि व्याधियों पर अनुपान भेद से दें, विशेष उपकारी हैं।

चतुर्थ विधिः—पारद को हिरन खुरी बूटी में ४ दिन घुटाई करें। पश्चात् गोला बना हिरन खुरी की ही लुगदी में रख संपुट कर, दीपकाग्नि से पकावें। श्वेत भस्म होगी।

पांचवीं विधिः—परिशुद्ध संस्कारित पारद को अच्छी प्रकार संपूटकी गई आतशी शीशी में डाल, ऊपर गन्धक का तेजाव डाल दें। बाद में तेज कोयलों की अग्नि पर पकालें, ध्यान रहे, तेजाब का धूवाँ शरीर को न लगे। जब शीशी के मुख से धूवां निकलना बन्द हो जाय। अग्नि बन्द कर दें। स्वांग शीतल होने पर, शीशी तोड़कर श्वेत भस्म निकाल लें। इस भस्म को किसी तामचीनी या काच पात्र में रख उष्णोदक डालें ८-१० बार धो लें इससे गन्धक का खटिक निकल जायगा। सावधानी रखें भस्म को हाथ से न धोवें किसी लकड़ी के चाकू से हिलावें। हाथ से मलने पर कम्पबात होने का भय है। इस भस्म को ४ गुने मख्खन में मिला घोटकर रख लें। इसे रात्री को सोते समय काच की सलाई से आंखों में अंजन करने से नेत्र में से जल स्राव रोहे आदि विकार नष्ट होते हैं।

इस भस्म का सेवन उपदंश विकार में उत्तम है। मात्रा १ चावल मुनक्का या हलुवे में लपेट कर निगल जावें दान्तों को ना लगे यह ध्यान रहे।

उपदंश एवं कुष्ठ रोग की अनुभूत औषधी है। उपदंश रोगी को ७ दिन दे कर ७ दिन बन्द कर दें कुष्ठ रोगी को १५ दिन तक दें। यदि वमन विरेचन हों तो चिन्ता नहीं। पत्थ्य में नमक एवं मीठा रहित दलिया आदि दें। दूध, दही से बने पदार्थ वर्जित हैं। घी का सेवन यथेच्छ करें। इस भस्म को किसी अन्य धातु के साथ नहीं मिलाना चाहिये। इसका संयोग यदि दूसरी वस्तु से या खटाई आदि से होगा तो पारद मूल रूप में आ जायगा। यह भस्म वास्तव में गन्धक के योग से मूर्च्छित पारद के रूप में है। वास्तविक भस्म नहीं इसलिए पूर्णसावधानी से इसका व्यवहार करें।

छठी विधि—पारद १ भाग वलि (गन्धक) २ भाग दोनों परिशुद्ध ले कज्जली करें। इनमें जिस धातु को भी मिला दे, उसी का रस सिन्दूर बनेगा। जैसे स्वर्ण डाल यदि कूपी पाक करें तो यह स्वर्ण सिन्दूर होगा, इसी प्रकार रजत सिन्दूर ताम्र सिन्दूर आदि धातुओं के सिन्दूर बनते हैं। इनका व्यवहार तत्तत रोगों पर अवस्थानुकूल करना चाहिये।

पारद में वलि बार २ जितने अंश में भी डालते जायेंगे। उतनी ही गुणबर्धक होगी। जैसे षड़ गुण वलि जारित, शत गुण वलि जारित, यहां पारद में वलि का जारण ही उसके गुण में वृद्धिकारक है। और रसायन, वयः स्थापक अनेक कष्ट साध्य व्याधियों को समूल नष्ट करता है।

सप्तम विधि—पारद को प्रथम सेंधा नमक में घुटाई करें, फिर नीम्बु का रस डालते जाय और घुटाई कर नमक का रग काला हो जायगा। ३ दिन घुटाई के बाद उष्णोदक से धोलें। धोने में सावधानी वर्तनी चाहिये पारद नष्ट-मिष्ट होने पर सूक्ष्म अंश हो जाता है यदि उतावलापन किया तो पारद पानी के साथ निकल जायगा। अतः किसी वर्तन या खरल में ही पानी डाल धीरे २ नितरने पर पानी निकालें। सब नमक निकलने पर फिर चीनी (खांड) डाल घुटाई करें। जब कालापन आ जायें तब फिर उक्त विधी से धोयें। ऐसा ३ बार करें, जब चीनी का रंग गुलाबी मायल हो चीनी डालना बन्द कर दें। फिर रोहु मिट्टी डाल रगड़ाई करें। इसका रंग कालिमा लिए होने पर। इसमें नीम्बू का रस डाल दें। फिर रगड़े, सूखने पर उमरु यन्त्र से पारद को उठा लें। यह पारद सब रसों में व्यवहार करने योग्य बन गया, कन्या रज (सोना गेरु) पारद से आधा भाग ले घुटाई करें फिर डमरु यन्त्र से उठालें। इस प्रकार करने पर पारद पूर्ण शुद्ध तथा सब रसों में व्यवहार करें।

कन्या रज (सोना गेरु) को शास्त्र कारों ने माना है। इसी का व्यवहार सर्वोत्तम है। रसायनशास्त्र की दृष्टि से, इस परिशुद्ध पारद में अभ्रसत्व, स्वर्ण, स्वर्ण माक्षिकका ग्रास दें भस्म बनावें। यह भस्म पक्षछिन्न पारद की होगी। कारण ग्रास देने पर पारद में टुटने की शक्ति नहीं रहती। यह विद्या गुरु लक्ष्य है। केवल पुस्तकवाचन मात्र से हास्यता को प्राप्त होता है।

सर्व रोग हरो रसः

जो पूर्व कह आये हैं। यथार्थ सत्य है। अग्नि बल के आधार पर यदि इसका प्रयोग निष्ठापूर्वक किया जाय तो संसार में

कोई रोग ऐसा नहीं। जो पारद सेवन से ठीक न हो।

असाध्य एवं याप्य रोगी भी इससे लाभान्वित हो सकता है।

वलि (गंधक)

पारद के वाद वलि का प्रमुख स्थान है। अर्थात्—जैसे प्रकृति पुरुष का जोड़ा है। उसी प्रकार पारद वलि का संयोग है। वलि प्रकृति का रज है। पारद व्रह्म है। इन दोनों का मेल ही संसार हैं।

शोधन -- अच्छो साफ गंधक को ले गो दुग्ध या निम्बपत्र क्वाथ या त्रिफला क्वाथ, या रेणुकपत्र क्वाथ। इसमें से जैसे गुण वाली बनानी हो ले लें। उस क्वाथ को किसी चौड़े मुंह के वर्तन में रख उसके ऊपर समान नाप वाली छलनी रख दें। उस पर साफ कपड़ा विछा दें। उस कपड़े पर गंधक विछा दें। उस पर १ तसला रख दें, तसले में कोयले डाल अग्नि लगा दें। थोड़ी देर बाद गंधक पिघल कर पात्र में चली जायगी, तथा शुद्ध हो जायगी। इस क्रिया को जितना शुद्ध करना हो उतनी बार कर सकते हैं। इस शुद्ध गंधक का प्रयोग पारद जारण में करना चाहिये। इस विधि से किसी प्रकार का बनाने वाले को कोई कष्ट नहीं होता। तथा शोधन भी सुगमता से हो जाता है। इस गंधक में भृङ्गराज आद्रक चातुर्जात के क्वाथ की भावना देकर वलि रसायन बनालें। जो रक्त विकारों पर विशेष अनुभूत है। इस शुद्ध गंधक को सभी रसों में व्यवहार करें।

❀ पंच कर्म ❀

चिकित्सा सोकर्य के लिए पंच कर्म विधि आयुर्वेद में सर्वोत्तम है। कठिन से कठिन रोग इस प्रक्रिया द्वारा निर्मूल हो जाता है, तथा जीवन क्रम आनन्दमय बनता है।

चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व पंच कर्म द्वारा शरीर शुद्धि परमावश्यक है। यद्यपि बहुत से रोग बिना पंच कर्म के भी चिकित्स्य हैं। पर अनेक कठिन रोग ऐंसे भी हैं, जो विना पंच कर्म के ठीक नहीं हो सकते। जिस प्रकार बीज बोने से पूर्व कृषि भूमी को परि शुद्ध तृण रहित कर लिया जाता है, तभी बीज वोने से भूमी फलवती होती है। उसी प्रकार पंच कर्म द्वारा शरीर शुद्धि कर चिकित्सा योग्य बनाया जाता है।

पञ्च कर्म क्या है ?

१. स्नेहन, २. स्वेदन, ३. वमन, ४. विरेचन, ५. वस्ति, इन नामों से पंच कर्म विख्यात है। जो शरीर शुद्धि के लिए परमावश्यक है। पंच कर्म द्वारा शुद्ध शरीर में औषधोपचार सदा फलदायी है।

स्नेहन—

द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलम्।
प्रायो मन्दं मृदुं च यत् द्रव्यं तत् स्नेहनं मतम्॥

(चरक, सू० अ० २१)

द्रव, सुक्ष्म, सर, स्निग्ध, पिच्छिल (चिकना) गुरु, शीतल, प्रायः मन्द, एवं मृदु गुण वाले द्रव्य स्नेहन कर्म में प्रयोज्य है।

जैसे—घी, तैल, वसा, मज्जा, ग्लिसरीन मधु, पेराफीन मोम, अमलतास, मधुयष्टी, माण्ड आदि। महर्षि चरक ने इन द्रव्यों की उपयोगिता शरीर में स्निग्धता द्रवत्व आर्द्रता एवं मृदुता लाने के अभिप्राय से उल्वेख किया है।

स्नेहन कर्म में प्रयुक्त द्रव्यों का प्रयोग वहिः स्नेहन, अर्थात् मालिश करने में होता है।

कुछ का अन्तः स्नेहन, मुखद्वारा पिलाकर किया जाता है।

कुछ का प्रयोग मालिश और पिलाने में किया जाता है। इस प्रकार इनका प्रयोग ३ प्रकार से हुआ।

चिकित्सा सौकर्य के लिए मुख्य चार द्रव्यों का प्रयोग आचार्योंने किया है।

घृतं, तैलं, वसा, मज्जा, स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः।

इन में तैल का प्रयोग वाह्य अभ्यंग(मालिश) आदि के लिए (घृतादष्ट गुणं तैलं मर्दने नतु भक्षणे) घी से आठ गुना लाभ करता है तैल मालिश में खाने में नहीं। अतः तैल का प्रयोग प्रायः मालिश मैं ही होता है। अपवादरूप अन्तः प्रयोग भी कहीं २ किया जाता है। घी का प्रयोग अन्तः पान करने के लिए सर्वोत्तम है।

वातानुलोम्यं दीप्तोऽग्निर्वर्चः स्निग्धमसंवृतम्।
मार्दवं स्निग्धताचाङ्गे स्निग्धानामुपजायते॥

(चर० सू० अ० १३)

स्नेहन कर्म से वायु का अनुलामन अग्नि का दीपन, पुरीष (शौच) में स्निग्धता, एवं मृदुता आ कर अंग प्रत्यंग स्निग्ध (चिकने) तथा मृदु (कोमल) हो जाते हैं।

अर्थात् शरीर के अंग प्रत्यंग तल मालिश से सुदृढ़ हो जाते हैं। तथा वात व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

स्नेह पान का समय

घृत तैलादि का पान सूर्योदय के समय अर्थात् सूर्योदय होने पर करना चाहिये।

मिश्रित स्नेह—

घी और तैल के सम भाग में मिश्रण को यमक कहते हैं। इन्हीं दोनों में वसा मिश्रित करने पर इनकी संज्ञा त्रिवृत हो जाती है। और इन्हीं में मज्जा मिश्रित कर देने पर महान् स्नेह की संज्ञा से अवबोध होता है।

स्नेहपान की अवधि

स्नेह पान ३ दिन से ६ दिन तक करना उपयुक्त है। अर्थात् ७ दिन के बाद स्नेह शरीर में सात्म्य हो जाता है।

जैसे—अतिपरिचय ते होत है, अरुचि अनादर भाय। मलयागिरि की भीलनी चन्दन देत जराय। के सिद्धान्तानुसार स्नेहन सात्म्य होने से मलादि का निर्हरण नहीं करता।

सात्म्यो भूतो हि कुरुते न मलानामुदीरणम्।

इससे ६ दिन तक शरीर में चिक्कणता आदिकर शरीर के लिए सुख कर होता है। तदनन्तर सात्म्यीभाव के कारण शरीर की धातुओं में घुल मिल जाने से पूर्ण लाभ नहीं होता।

मात्रा निर्देश—

दोष, काल, अग्नि, आयु, बल, का विचार कर हीन मात्रा मध्यम मात्रा, ज्येष्ठ मात्रा की योजना करें।

मिथ्या आहार विहार से चरक के 'मात्राशी स्यात्' के सिद्धान्त के विपरीत सेवन करने से, कण्डु, कुष्ठ, ज्वर, उत्क्लेद, शूल, अफारा, भ्रम आदि उपद्रव हो जाते हैं।

यदि कारणवश उपद्रव हो भी जायें तो लंघन और स्वेदन कराना चाहिये।

मात्रा—

जिस व्यक्ति की अग्नि तीक्ष्ण हो उसे उसके अनुकूल स्नेह की मात्रा ४ तो० देनी चाहिये। मध्यमाग्नि को ३ तो० एवं मंदाग्नि वाले को २ तो० देनी चाहिये।

परिणाम—

स्नेहपान से अग्नि दीप्त होती है, कोष्ठ शुद्ध होता है। रसादि सातों धातु पुष्ट हो जाती हैं। इन्द्रियाँ सुदृढ़ तथा शरीर नवयौवनता का अनुभव करता है।

स्नेह सेवनकाल में अतिपरिश्रम (व्यायामादि) शीतल पदार्थों का सेवन वेगों का रोकना रात्रि जागरण दिवा शयन दही आदि का सेवन तथा रुक्षान्न का त्याग करे।

स्वेदन :—

स्वेदन कर्म चार प्रकार से किया जाता है।

१. ताप स्वेद, २. उष्म स्वेद, ३. उपनाह स्वेद, ४. द्रवस्वेद।

प्रथम दो का प्रयोग प्रायः कफ विकार में कफ शान्ति के लिए किया जाता है।

उपनाह स्वेद, द्रव स्वेद, पित्त वात नाशन हेतु कियाजाता है।

स्वेद शारिरिक दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक है। शरीरस्थ विकृतमल स्वेद द्वारा रोम कूपों से बाहर आ शरीर को शुद्ध कर स्वास्थ्य लाभ करते हैं।

तापस्वेद :

सिकता (वालु रेत) हाथ, वस्त्र, मृत्तिका आदि द्वारा सेक देना ताप स्वेद है।

यह यथावश्यक समयानुकूल करना चाहिये।

उष्म स्वेद :

लौह गोलक, इंट या पत्थर को अग्नि में तपाकर अम्ल द्रव्यों में (कांजी नीम्बू) आदि में बुझा उसे एक गीले कपड़े में लपेट कर रुग्ण स्थान का परिषेक करने से जो स्वेद आयेगा उसे उष्म स्वेद के नाम से कहा है। अथवा, वात शामक द्रव्यों का (धतूरे के पत्ते एरण्ड पत्र, निर्गुण्डी पत्र, मदार, देवदारु, दशमूल, दशांग चूर्ण, आदि) क्वाथ यारस को गरम कर वाष्प देने को उष्मस्वेद कहते हैं। इसके समय पर देने से शरीर हल्का तथा नीरोग होता है।

विधि—वाष्प स्वेदन की अनेक विधि हैं। जिनमें से सद्यः फलप्रद एवं लाभकारी विधियों का उल्लेख यहाँ किया जाता है। सर्व साधारण के लिए, दो बड़े वर्तन जिनमें से १० सेर तक पानी आसके लें, उनमें उपयुक्त औषध द्रव्य डाल मुख बन्द कर उबालें, फिर एक खाट ऐसी लें जिसके वाण विरल हों। उस पर रोगी को लिटा दें तथा ऊपर कंवल उढ़ा दें। खाट के चारों ओर मोटा कपड़ा लगा दें जिससे हवा न प्रवेश करे। ऐसा करने पर १ वर्तन को पैरों की ओर रखे और थोड़ा-सा मुँह खोल दें, इससे वाष्प शरीर पर लगने लगेगी। धीरे २ उस वर्तन को आगे शिर की ओर ले जावे। पैरों की ओर दूसरा बर्तन रख पूर्व विधी से ही मुख खोले। स्वेद आने पर अन्दर रोगी को

१ तौलिया दे दें। जिससे अन्दर पसीना पोंछता रहे। ध्यान रहे। हृदय पर आर्द्रवस्त्र रखं जिससे स्वेद का प्रभाव हृदय पर न पड़े, साथ ही मुख को खुला रखें गर्दन तक कम्बल उढ़ावें, शिर पर कोई अन्य वस्त्र रखें जिससे शिर नंगा न रहे। यह क्रिया निर्वात स्थान पर कर।

दूसरी विधि—१ सम कोण गढ़ा रोगी के शरीर के अनुपात से २ फुट चौड़ा, २ फुट गहरा, ६ फुट लम्बा खोद उसमें, करीर आदि की लकडी लगा अग्नि लगा दें। अंगार होने पर जब गढा लाल हो जाय तब सब अंगारों को निकाल दें। तथा कांजी आदि द्रव्यों से गढे का सिंचन करें। उसके बाद, एरण्ड पत्र, मदार पत्र रोगानुकूल उस गढे में डाल दें। जिससे पत्र गरम होकर वाष्पित हो जायेंगे। उस पर रोगी को लिटा दें। तथा कम्बल उढ़ादें। शरीर पूर्णतया स्वेदित हो जायगा। फिर धीरे २ रुग्ण को उसमें से निकालें तथा तौलिये से मर्दन करें। ध्यान रहे हवा न लगे। यदि हवा लग गई तो लाभ के बदले हानि का भय है।

तीसरी विधि—अनुभवी चिकित्सकों द्वारा इस विधी का निर्माण किया गया है। जो सर्वथा निरापद है। तथा करने वाले को तथा रोगी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

यह विधी कलकत्ता आदि कई स्थानों पर प्रचलित है। हम इस का प्रयोग प्रायः करते रहते हैं।

एक चतुष्कोण पेटी तैयार करें। इसमें चारों ओर ऐस्वस्तोष की चद्दर लगा दें। एक ओर का रास्ता रख लें। उसको बंद करने के लिए भी एक चद्दर रखें जो समय पर हटाई जा सके।

उसमें १ पट्टा या कुर्सी लगा दें जिस पर रोगी को बैठा द। गले पर गर्म कपड़ा लगा दें मार्ग बन्द कर दें।

उसके बाद एक बड़े वर्तन में औषध द्रव्य डाल अंगीठी पर पकावें। उसमें १ टूटी लगा दें जो आगे से मोटी तथा पीछे पतली रहे। उसमें १ नली लगा दें। उस नली में १ छोटी टूटी लगा दें। उस टूटी को उस पेटी में रोगी के हाथ में दे दें। रोगी वाष्प सहन हो सके इतनी टूटी को खोलता रहे। उससे वाष्प पूर्णरूप से पेटी में चली जायगी। रोगी सहन कर सके तब तक टूटी खुली रखे। जब पूर्ण स्वेदित हो जाय तब टूटी बन्द कर दें। और तौलिये से जो प्रवेश समय अन्दर रख लिया था उससे शरीर को पूर्ण रूप से रगड़ें तथा शरीर का प्रोक्षण करें। शरीर निर्मल होने पर खिड़की खोल रोगी को वाहर निकालें। यह विधि विज्ञानपूर्ण तथा निरापद है। इससें स्वेदन पूर्ण हो जाता है। इसे वाष्प स्नान भी कहते हैं।

स्वेद कर्म से दोष द्रवरूप में कोषों से मल-मूत्र द्वारा तथा स्वेद वाही स्रोतों द्वारा वाहर निकल जाते हैं। इससे रोगी सुख अनुभव करता है। तथा रोग शान्त हो जाता है।

उपनाह स्वेद :

वात हर द्रव्य दशमूल आदि को किंचित उष्ण कर दुग्ध, रस आदि के योग से कल्क बनाकर (पीसकर) उनमें सेंधा नमक तैल कांजी अम्ल द्रव्यों आदि का मिश्रण कर लेप बनाकर वातग्रसित अंगों पर जो लेप किया जाता है उसे उपनाह कहते हैं।

दूसरी विधि—वातहर द्रव्यों को लेकर उपर्युक्त दुग्धादि के संहयोग से पीस मोटे कपड़े में बांध अच्छे तवे पर गर्म कर

सेकने से भी रोग नष्ट होता है। यह भी उपनाह स्वेद कर्म है इसमें जिस स्थान पर सेक होगा वहीं स्वेद आयेगा तथा रुग्ण स्थान पुष्ट होगा।

द्रवस्वेद :

वात नाशक द्रव्यों को किसी बडे पात्र में डाल उबाल कर उसमें रोगी को बैठा स्नान कराने की विधि द्रव स्वेद है।

इस स्वेद को देने से पूर्व रोगी को सिद्ध तेल की अच्छी प्रकार मालिश कर देनी चाहिये। क्वाथ इतना ले जिस में रोगी के बैठने पर नाभी से ६ अंगुल ऊपर रहें। एक वतन से क्वाथ को ऊपरी अंगों पर डाते हुए स्नान करें। तथा एक वस्त्र ले उससे शरीर को रगडे। यह स्नान (द्रवस्वेद) तैल, दुग्ध, घृत द्वारा भी किया जा सकता है। यह रोगी की अनुकूलता पर देखें।

इस अवगाहन स्नान को एक दिन के अन्तर से करना चाहिये। इस कर्म से रोम कूप शिरा मुख एवं कर्मेंद्रियाँ शुद्ध होती हैं शरीर बलवान बनता है।

रसादि धातुओं की अभिवृद्धि होती है। वात नाश के लिए यह सर्वोत्तम प्रयोग है। अंग प्रस्फुरण जठराग्नि आदि उद्दीप्त होने पर इस क्रिया को बन्द कर दें।

इसके बाद—रोगी के शरीर को धीरे २ हाथ से मलते हुए गरम जल सहन हो सके ऐसा लेकर स्नान करावें। अभिष्यन्दी (दही आदि) पदार्थों से तथा श्रम का पत्थ्य रखें। इस प्रकार यह स्वेदन कर्म (पसीना लाना) शरीर के यिए उपयोगी तथा पंचकर्म की, दूसरी क्रिया हुई।

वमन :

कुशल किकित्सक, वसन्त ऋतु, (फाल्गुन चैत्र) शरद ऋतु (कार्तिक मार्गशीर्ष) प्रावृट् (आषाढ़ श्रावण) इन ऋतुओं मे वमन करावे, अर्थात् जब न अधिक गर्मी हो न शरदी, न अधिक वर्षा, ऐसे समय वमन कराना चाहिये।

इस क्रिया को शोधन क्रिया भी कहते हैं।

वमन कराना आवश्यक :

विष जन्य व्याधी, स्तन्यज व्याधी, स्तन्यस्तम्भ, क्षीराव-रोध, स्तन्यार्बुद, दुग्ध ग्रन्थियों में अर्बुदाकार ग्रन्थि का होना, ज्वर, दुग्ध, दुष्टि, दूध का गाढ़ा होना, दूध का पतला होना, मंदाग्नि, अर्बुद, हृद रोग, कुष्ठ, वीसर्प, प्रमेह, अजीर्ण, भ्रम (शिर चकराना) बिदारिका, कक्ष एवं वक्षण प्रदेश में लसिका ग्रन्थियों में शोथ होना, अपची, गण्डमाला, श्वांस, कास, पीनस, अण्ड वृद्धि, अपस्मार, कफ प्रधान ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार, नासापाक, तालु पाक, ओष्ठ पाक, कर्णस्राव द्विजिह्वक, (जिह्वा के नीचे शोध होना) उप जिह्वा, गलशुण्डी, अतिसार, पित्तज एवं कफज रोग, मेद वृद्धि, अरुचि, आदि व्याधियों मैं 'वमन कर शरीर शोधन करना चाहिये।

सुकुमार कृश वाल वृद्धों के लिए वमन प्रयोग,—कमजोर, बालक, वृद्ध, भयाक्रान्त रोगियों को वमन न करावे। यदि कराना आवश्यक हो तो, यवागु, दही, दुग्ध, अथवा तक्र अच्छी प्रकार पिलाकर १ घंटे वाद वमन कराना चाहिये।

हमारी परंपरा :

जिसे वमन कराना हो उसे सायं सोने से पूर्व घी और खिचड़ी मन माफिक खिला दें। प्रातः सूर्योदय होने पर नित्य क्रिया से निवृत होने पर दूध और खिचड़ी मिलाकर पिला दें। फिर १ घंटा इधर उधर टहलता रहे। बाद में वमनोपयोगी द्रव्यों का क्वाथ, मदनफल (मैंन फल) सेंधानमक मिला पिला दे। सरलता पूर्वक वमन होकर शरीर शुद्ध हो जायगा। इनमें मधु का प्रयोग भी किया जाय तो हितावह होगा। मात्रा कल्पना वैद्य रोगी की अवस्थानुकूल करे।

कटु रस प्रधान तथा तीक्ष्ण एवं उष्ण वीर्य द्रव्यों का प्रयोग कफ निहरणार्थ करना चाहिये। पित्त प्रधान रोगों में मधुर रस प्रधान शीतवीर्य द्रव्यों का प्रयोग हितावह है। कफावृतवात दोष के लिए मधुरलवण एवं अम्लरस प्रधान द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

कफज व्याधियों में, पिप्पली, मैनफल, सेंधानमक, का कल्क कर उष्णोदक के साथ सेवन करावें। इस में जल जितना भी पिला सकें पिलावें। इसके सेवन से यथेष्ट लाभ होगा।

पित्तज व्याधियों में परवल के पत्ते, वासा पत्र, निम्ब पत्रादि का कल्कबना शीतोदक के साथ सेवन करावे। कफावृत्त वातज व्याधियों में मदन फल का कल्क दूध के साथ एवं अजीर्ण रोग में सेंधा नमक उष्णोदक में मिलाकर पिलाने से श्रेष्ठ वमन होता है।

उपद्रव :

कभी २ वामक द्रव्यों के प्रयोग से अनेक रोगियों को श्रेष्ठ वमन नहीं होता। अतः इससे कुछ उपद्रव हो जाते हैं। अतः

रोगी को रूक्ष पदार्थों से भावित जल से गण्डूष (कुल्ले) करावें। रूक्ष द्रव्यों का धूवां प्रयोग करावें। तथा रूक्षान्न आहार कराकर पुनः वमन करावे। इससे वमन ठीक होकर रोगी सात्म्य हो जायगा। यदि उपद्रव अधिक हो जाय तो कठिन परिश्रम या विरेचन करावें। तैल मे नमक मिला मालिश करावें।

वमन के समय आसन :

रोगी को वामक द्रव्य देने पर किसी ऐसे स्थान पर बैठावें जिससे वमन के छींटे शरीर पर न पड़ें, अर्थात् रोगी का आसन ऊँचा हो नीचे वमन हो सके। बैठते समय उकडू (अर्थात्) पजो के बल बैठे। तथा हथेली से नाभीस्थान को दबावें। इससे शरीर संचालन क्रिया ठीक होगी तथा वमन भी उचित मात्रा में होगा। अतः सम्यक् वमन ही उपयुक्त है। अति वमन से अनेक उपद्रव हो जाते हैं। अतः कुशल वैद्य सावधानी से इस प्रयोग को गुरु मुख से पूर्ण शिक्षित होकर ही करावे। केवल पुस्तक वाचन या देखकर ही नहीं। यदि उपद्रव हो ही जाय तो रोगी को मृदु विरेचन करा देना चाहिये। यदि जिह्वागत दोष हो जाय या जीभ बाहर को निकल आवे तो तैल घृत अम्ल पदार्थों का घर्षण जिह्वा पर करना चाहिये।

ठीक वमन होने के लक्षण :

हृत्कण्ठ शिरसां शुद्धिः दीप्ताग्नित्वं च लाघवम्।
कफ पित्त विनाशश्च सम्यग्वान्तस्य चेष्टितम्॥

हृदय कण्ठ एवं शिर का शोधन हो कर शरीर में हल्कापन अनुभव होता है। अग्नि का प्रदीप्त होना, शरीर में लघुता कफ पित्ताजन्य लक्षणों का नाश हो जाता है। सम्यग् वमन होने पर, जब पूर्ण भूख लगे तब सांठी चावल की खिचड़ी यवागु,

अथवा इसी का प्रयोग करायें। इस प्रकार सम्यक् वान्त व्यक्ति के तन्द्रा, मनोमोह, अति निद्रा, कण्डु, खुजली, ग्रहणी, पक्वाशय सम्बन्धी रोग विष सम्बन्धी रोग कभी नहीं होते। सुवान्त व्यक्ति को गुरु पदार्थ शीतोदक पान विशेष स्नान व्यायाम मैथुन तैल मालिश क्रोध त्याज्य है।

बमन विरेचन से पूर्व स्नेहन स्वेदन क्रिया आवश्यक है। इनमें व्यत्क्रय होने से शरीर सूखी लकड़ी के समान दण्डवत् हो जाता है। अतः प्रथम स्नेहन, स्वेदन, फिर वमन, बाद में विरेचन करना चाहिये यही क्रम श्लाघ्य है।

विरेचन

सुनियोजित क्रम से स्नेहन स्वेदन वमन कराये रोगी को विरेचन कराना चाहिये। विना वमन कराये विरेचन कराने से कफ आमाशय से निम्न भाग में जा ग्रहणी कला को प्रभावित करता है।

हानि :

वमन कराये विना विरेचन से जो हानि होती है वह शरीर को मृत्यु मुख की ओर ले जाने वाली है। अतः जब कफ ग्रहणी को प्रभावित करता है। तब मन्दाग्नि, भारीपन प्रवाहिका आदि रोग हो जाते हैं, अतः क्रमपूर्वक ही क्रिया करनी चाहिये।

पित्तज विकारों में आमजन्य व्याधियों में उदर रोग में आध्मान में विरेचन परमावश्यक है।

लाभ—लंघन पाचन औषधों द्वारा शान्त दोष पुनः प्रकट हो सकते हैं। पर शोधन (वमन विरेचन) द्वारा निकाले गये दोष पुनः उत्पन्न नहीं होते। अतः ऋषि प्रणीत प्रणाली द्वारा निर्धारित बलाबल अनुसार यह क्रिया करनी चाहिये।

विरेचक औषध द्रव्य :

मृदु कोष्ठी के लिए, निशोथ चूर्ण द्राक्षा क्वाथ पिलाना उपयुक्त है।

मध्यम कोष्ठ वाले के लिए, त्रिफला क्वाथ गोमूत्र में त्रिकटु चूर्ण मिला कर देना उपयुक्त है। वात प्रधान क्रूर कोष्ठी के लिए निशोथ सेंधानमक सोंठ काञ्जी आदि में मिला देना चाहिये।

एरण्ड तैल प्रयोग :

एरण्ड तैल में द्विगुण त्रिफला चूर्ण को मिला कोष्ण दूध से अथवा द्विगुण दूध में एरण्ड स्नेह मिला वाद में और दूध पीने से विरेचन ठीक हो जाता है।

औषध द्रव्य—निशोथ इन्द्र जौ, पिप्पली, शुण्ठी, द्राक्षा, धमासा, नागर मोथा नेत्रवाला, मुलहटी श्वेत चन्दन चित्रक पाठा जीरा वच स्वर्णक्षीरी, हरीतकी, त्रिफला, आदि औषध द्रव्य समयानुकूल प्रयोग करें। जयपाल का प्रयोग कठिन कोष्टियों के लिए है पर विशेष शुद्धि के साथ। यदि उसकी विशेष शुद्धि न होगी तो यह अनेक उपद्रव कर देता है। दूसरी वस्तुओं के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये। जबकि अन्य औषध कार्य न करती हों।

पश्चात् कर्तव्य :

विरेचक औषध ले ने के वाद शीतोदक से आँखों का सेचन सुगंधित तैलों से सुवासित, ताम्बूल भक्षण, निर्वातस्थान में बैठना, वेगों को रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। शयन न

करें। शयन से वेग रुक जाते हैं। गुद प्रक्षान कोष्णजल से करना चाहिये। प्यास लगने पर कोष्ण जलपान करना, शीतल जलपान का स्पर्श करना भी त्याज्य है।

सम्यग् विरेचन का फल :

जिस प्रकार वामक द्रव्यों के सेवन के वाद प्रथम कफ निकल कर फिर औषधी तथा उसके बाद पित्त एवं वायु निकलते हैं।

ठीक इसी प्रकार विरेचन मे भी प्रथम मल एवं पित्त एवं औषध बाद में कफ निकलता है।

ध्यान रहे विरेचन कर्म में उपद्रव न हो यदि कोई उपद्रव हो ही जाय तो पुनः पाचन औषध देकर आम पाचन करें। पश्चात् स्नेह औषध पिलाकर पुनः विरेचन करावें। अति विरेचन न हो, इसका भी ध्यान रखें। यदि अति विवेचन हो ही जाय तो. उसके शरीर पर शीतोदक की मालिश करावें, तथा चावल के धोवन में मधु मिला पिलावें। बाद में ग़लें में अंगुली स्पर्श करा। वमन करा दें। आम्र छाल को काञ्जी के साथ पीस उदर पर लेप करावें। अजा दुग्धपान करावें मसूर की दाल का प्रयोग करावें। यदि इससे बन्द न हो तो दही या मट्ठा सेंधा नमक जीरा सूंठ मिला पिला दें, निश्चित लाभ होगा।

सुविरिक्त व्यक्ति का वायु आनुलोभन हो जाता है तथा शरीर में विशेष स्फुर्ति आ जाती है।

ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ मन बुद्धि का बल बढ़ता है।

त्याज्य कर्म :

विरेचन के बाद, अति वात सेवन शीतोदक पान स्नान तैल विशेष परिश्रम मैथुन आदि १ मास के लिए त्याज्य हैं। विरेचन के बाद साठी चावल, मूंग, दुग्ध-दही आदि का प्रयोग हितावह है।

वस्ति

यह क्रिया औषधी द्रव्य को वस्ति स्थान तक पहुँचाने के कारण, अथवा प्राचीन समय में इस क्रिया को करने के लिए मृत पशु बकरी आदि की वस्ति का प्रयोग किया जाता रहा है। अतः इसे वस्ति क्रिया कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं।

१ अनुवासन वस्ति, २ निरुहण वस्ति, जो क्रिया स्नेह द्रव्यों द्वारा घृत, तैल आदि द्वारा की जाती है। उसे अनुवासन, तथा क्वाथ क्षारादि से मिश्रित द्रव्यों द्वारा की जाती है, उसे निरुहण वस्ति कहते हैं।

वात प्रधान रोगी, तीक्ष्णाग्नि, रुक्षशरीर अनुवासन वस्ति के योग्य है।

जो रोगी कुष्ठ प्रमेह स्थूल उदर रोग ग्रसित हो, उसे अनुवासन नहीं देनी चाहिये।

अजीर्ण, उन्माद, तृष्णा, शोक, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास, कास एवं क्षय रोगी को आस्थापन वस्ति, एवं अनुवासन वस्ति दें। वस्ति के उपकरण आधुनिक औषध विक्रेताओं से सुलभ है। अतः पूर्व विधि निर्माण की आवश्यकता नहीं। वस्ति कर्म से वर्ण, बल और आरोग्य की प्राप्ति होती है।

विधि :

सम्यग् विरेचन के ७ दिन पश्चात् अनुवासन वस्ति के योग्य रोगी को तैलाभ्यंग करा के उष्णोदक से धीरे २ अवगाहन स्नान द्वारा स्वेदित करना चाहिये।

फिर उसे मृदु भोजन करा कुछ देर घुमाना (टहलाना) चाहिये। जब रोगी को भली प्रकार अपानवायु, मलोत्संर्जन हो चुका हो। तब उसे स्निग्ध वस्तिकर्म कराना चाहिये।

रोगी को बाईं करवट लिटाकर बायां पैर फैला दें दायां पैर संकुचित (मोड़) कर गुद द्वार पर स्निग्ध पदार्थ द्वारा सचिक्कन कर वस्ति नली धीरे २ प्रवेश करें। तदनन्तर शनैः २ नली की टूटी को खोलते जाये। स्नेह द्रव्य पूर्णरूप से अन्दर जाने पर यन्त्र को निकाल लें। पश्चात् रोगी के हाथ पैर आदि अङ्गों को अच्छी प्रकार फैला दें। एवं शिथिल कर दें, स्नेह का प्रभाव शरीर पर हो सके। फिर पीछे से थोड़ा २ उठायें। उसके बाद रोगी को पूर्ण विश्राम करने दें।

स्नेह वस्ति प्रयोग के बाद विना किसी उपद्रव के अपान मल स्नेह सहित बाहर आ जावे तो वस्ति कर्म सफल समझना चाहिये।

इस क्रिया के पूर्ण होने पर अग्नि प्रदीप्त होने पर तथा भूख लगने पर सायं काल हल्का भोजन दें।

दूसरे दिन—यदि अग्नि मन्द प्रतीत हो तो, सोष्णजल अथवा धनियाँ सुण्ठी, का क्वाथ पिलावें। इन कर्मों के बाद वात एवं कफ को शान्त करने के लिए उष्णोदक पान हितावह है। यह सब क्रिया गुरुद्वारालक्ष्य कर ही करनी चाहियें।

निरूहण वस्ति :

शास्त्रकारों ने इसके अनेक भेद किये हैं। यह केवल स्थिति अनुसार नामकरण किया गया है। इसका दूसरा नाम आस्थापन वस्ति भी कहा है। अनुवासन विधि के अनुसार ही निरुहण वस्ति प्रकार है। यह क्रिया विना भोजन किये की जानी चाहिये।

वस्ति देने के बाद रोगी को उत्कटासन से बैठा दें, यदि आधा घंटा तक मल बाहर न आवे तो क्षार कांजी, गोमूत्र आदि अम्ल द्रव्यों के घोल द्वारा पुनः वस्ति दें। मल बाहर आ जायेगा। वस्ति कर्म के बाद दोषानुसार स्वल्प भोजन करावें। अच्छी प्रकार मन में प्रसन्नता आने पर वस्ति कर्म बंद कर देना चाहिये।

सबसे पूर्व उत्क्लेशन, (दोषों को उभार ने वाली) तदनन्तर दोष हर (दोषों को हरने वाली) अन्त में संशमनी (दोषों को शमन) करने वाली वस्ति देनी चाहिये।

१ उत्क्लेशन—एरण्ड बीज, महुआ, सेंधा नमक, बच, हाउवेर, पीपली, मेंनफल, इन के कल्क का घोल बनाकर जो वस्ति दी जाती है वह उत्क्लेशन वस्ति हैं।

दोष हर—सोंफ, महुआ, वेलगिरी, इन्द्र जौ, आदि को कांजी में पीस कर कल्क बना लें इस कल्क का घोल बनाकर वस्ति दें यह दोष हर हैं।

संशमनी या शोधिनी—दन्ती, त्रिफला, वेलगिरी, लोध, जवाखार, थोहर, शंखिनी, अमलतास आदि शोधन द्रव्यों के कल्क द्वारा दी गई वस्ति संशमनी है।

माधु तैलिक वस्ति :

सुकुमार नरनारियों के लिए दोषों को नष्ट करने वाली वस्ति माधुतैलिक है, यह वस्ति सर्वोत्तम है। यह हर ऋतु में दी जा सकती है।

प्रयोग—एरण्ड मूल क्वाथ ३२ तो० मधु १६ तो० एरण्ड तेल १६ तो० सोफ २ तो० सेंधा नमक १ तो० मैन फल १ नग लेकर चूर्ण कर लें मथनी से मथकर थोड़ी अग्नि से गरम कर लें। इस योग को माधु तैलिक नाम दिया है। इसकी वस्ति देने से मेद रोग गुल्म, वातज अर्बुद, कृमि, प्लीहाभिवृद्धि, मल जन्य उदावर्त, मलावरोध, वात प्रकोप, आध्मान, शूल, आदि रोग नष्ट होकर बलवर्ण की अभिवृद्धि होती है। यह वृष्य एवं दीपन पाचन है।

वस्ति कर्म के अनेक प्रयोग शास्त्रकारों ने वर्णन किया है। समयानुकूल उनका व्यवहार उपयुक्त है।

वस्ति कर्म के बाद उष्णोदक स्नान हितावह है। दिन में सोना अभिष्यन्दि पदार्थ का आहार पान निषेध है।

योगी लोग किसी तालाब या नदी में प्रवेश कर नौली क्रिया द्वारा वस्ति कर्म करते हैं। यह क्रिया योगिजनों से प्राप्त की जाती है। मेरे गुरुदेव प्रायः ही अधिकारी व्यक्ति को इस क्रिया का ज्ञान नित्य कराते हैं। वस्ति क्रिया को करने वाला साधक कभी रुग्ण नहीं होता तथा साधना पथ पर निरन्तर उन्नति करता रहता है।

उत्तरवस्ति :

उत्तर वस्ति का प्रयोग औपसर्गिक रोगों (उपदंश) उष्ण वात आदि में होता है। इसके यन्त्र बाजार में सुलभतया मिलते हैं। यह जननेन्द्रिय में दी जाती है।

—नस्य—

नासिका द्वारा जो औषधी द्रव्य ग्रहण किया जाता है। उसे नस्य कर्म कहते हैं। नस्य कर्म के रेचन और स्नेहन रूप से दो भेद हैं। रेचन से ऊर्ध्वजन्त्रु गत मस्तिष्क आदि में रहने वाला कफ, पित्त पतला बन कर श्वेतपीत रूप से निकल जाता है। स्नेहन नस्य वृहण कार्य करता है। इससे ऊर्ध्वगत नाडियों में जो रुक्षता है। उसमें चिकनाई आकर शिरोर्ति आदि रोग जो कफ एवं पित्त बात प्रकोप से हो जाते हैं। दूर होते हैं। कफज व्याधियों में प्रातःकाल तथा पित्तज में अपराह्नकाल एवं वातज व्याधियों में सायंकाल नस्य कर्म करना चाहिये। प्रायः नस्य दिन में ही प्रयोग करने का विधान है पर रोग विशेष की उत्कटावस्था में, रोग शमनार्थ कोई भी समय, जब भी रोगी को आवश्यकता समझी जाय—रात्रि आदि का विचार न कर नस्य कर्म करें।

भोजनोपरान्त दुर्दिन (मेघाच्छन्नंहि दुर्दिनम्) मेघाच्छादित दुर्दिन में, नव प्रति श्याय में क्त्रिम विष विकार में, गर्भावस्था में अजीर्ण वस्ति प्रयोग के बाद स्नेहादि के पान के बाद लें वेगावरोध वृद्ध तथा बालकों को स्नान से पूर्व तथा स्नान के बाद नस्य प्रयोग नहीं करना।

विरेचन नस्य द्रव्य :

सर्षपतैल आदि से विरेचन नस्य किया जाता है। शुंठी, मिरच, पीपल, आदि से सिद्ध तेल भी नस्य कर्म में प्रयोज्य है।

नस्य प्रयोग में

अणुतैल, कुंकुम नस्य, नारायण तैल, माषादि तैल आदि का प्रयोग करना चाहिये।

शिरो विरेचिनी नस्य—तुलसी बीज, अपामार्ग बीज, कटुतुम्बी बीज, वायविडंग, सोंठ, पीपल, छोटी इलायची, मुलहटी, सब सम भाग, काली मिरच चौथा भाग लें नस्य तैयार करें। इस नस्य से मस्तिष्क का कफ निकल जाता है। जत्रुगत दोष दूर होते हैं।

विमर्श—वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन नस्य, इन पांच क्रियाओं का नाम विद्वानों ने पंचकर्म के नाम से निश्चित किया है। इनके करने से पूर्व, जिस प्रकार क्षेत्र को बीज के लिए तैयार किया जाता है। उसी प्रकार स्नेहन, स्वेदन द्वारा शरीर इन कर्मों के योग्य बनाया जाता है। इनका करने से पूर्व चिकित्सक इस गुरुगम्य विषय को पूर्णतया हृदयंगम करे। इस चिकित्सा में प्रवृत्त हो। तथा अपनी कुशाग्रबुद्धि से समयानुकूल ऊहापोह कर रोगी के अनुकूल, जिससे रोगी का उपकार हो। चिकित्सा करे। अपनी तर्क बुद्धि को पूर्णतया निश्चयात्मक कसौटी पर कस कार्य करे।

यौगिक चिकित्सा में गुरुदेव द्वारा प्रतिपादित, जीवन तत्व साधन, जो नौ क्रियाओं का सामुहिक नाम है करने से शरीर पुष्ट एवं नीरोग रहता है। श्री गुरुदेव द्वारा लिखित जीवन तत्व साधन, अवलोकनीय है।

विशिष्ट अनुभूत योग

मल्ल

शुद्ध मल्ल श्वेत १ तो० को १-१ नीम्बु के स्वरस से घोटते जाये इस प्रकार १ तो मल्ल में १०० नीम्बु का रस समाप्त होने पर बाजरे के बराबर गोलियां बनाले। अनुपान भेद से सभी व्यात व्याधियों पर प्रयोग करें।

२ पंच बाण रस—

मल्ल १ तो० मैनसिल १ तो० हरतालवर्की १ तो० सिंगिया विष १ तो० रुमी सिंगरफ १ तो०। सब को एकत्र पीस, २० तो० लाल मिरच के बीजों को पीस कर मिला दे। तदनंतर पान के रस की २१ भावना देकर उड़द प्रमाण गोली बना ले। इस रस को अर्धाङ्ग अर्दित नपुंसकता आदि व्याधियों पर प्रयोग करें। इसके सेवनकाल में दूध घृत का सेवन आवश्यक है। गरिष्ठ पदार्थ वर्जित हैं।

३ मल्ल भस्म—

मल्ल १ तो० की डली ले। १० तो० सोडा बाई कार्ब (खाने का सोड़ा) ले किसी मिट्टी के सकोरे में ५ तो० रख, ऊपर मल्ल रख दें। फिर ५ तो० सोड़ा रख दबा दें। ८ घन्टा की बेरी की मंद मध्य तीव्र अग्नि दे। स्वांग शीतल होने पर, फूली हुई मल्ल भस्म को निकाल लें।

मात्रा १ चावल संपूर्ण वात व्याधियों पर व्यवहार करें।

श्वास—कमजोरी आदि पर भी अनुपान भेद से व्यवहार करे।

४ अमृतभस्म—

१ प्रवाल शाखा। २ मुक्ता शुक्ति। ३ अकीक। ४ शंख-नाभी। ५ पीत कपर्द। ६ वेर पत्थर।

सब सम भाग ले, गो दुग्ध से भावित कर, गज पुट में फूक दें। स्वाग शीतल होने पर निकाल, पीस गुलाजल की भावना दें, छोटी २ गोलियां वना ले, ३ गज पुट देन से उत्तम वारितर भस्म तैयार होगी। यह भस्म समस्त स्त्रीरोगों पर अनुभूत है। प्रसूत वात आदि में तत्काल लाभकारी है। वालकः के चूने की कमी से होने वाले रोगों पर लाभ प्रद हैं, हृद रोग मधुमेह में भी उत्तम प्रभाव दर्शाती हैं।

अधिक काल सेवन से प्रदर आदि पर चमत्कारिक प्रभाव दर्शती है। अनुपान मधु मक्खन, दूध लस्सी अवस्थानुकूल दें।

५ तार्क्ष्य रसायन—

१ तार्क्ष्य (पन्ना) ४ भाग।
२ हीरक— १/२ भाग।
३ स्वर्ण।
४ ताम्र।
५ कान्त।
६ तीक्ष्ण लोह।

७ पारद। सब ८-८ भाग, सब को एकत्र कर मैनसिल हरताल गन्धक। ये सब चतुर्थांश ले, गुडूची (गिलोय) के रस में ६ प्रहर मर्दन कर गोला बना सुखा लें, फिर कुक्कुट पुट में भस्म करें। इस में से १-१ राई की मात्रा से चित्रक अदरख के रस से रोगानुसार व्यवहार करे। शक्तिप्रद रसायन है।

६ स्वर्णामृत वटी—

१ अभ्रक भस्म १००० पुटी	२॥ तो०
२ कान्त लौह भस्म	३ तो०
३ कस्तूरी	३ मासा
४ अम्बर	१ तो०
५ मुक्ता पिष्टी	१ तो०
६ स्वर्ण वसंत मालती	२॥ तो०
७ पूर्ण चन्द्रोदय	२ तो०
८ प्रवाल पिष्टी	२ तो०
९ स्वर्ण वंग	२ तो०
१० वंग भस्म	१ तो०
११ यशद भस्म	१ तो०
१२ रौप्य भस्म	२॥ तो०
१३ स्वर्ण भस्म	१ तो०
१४ स्वर्ण वर्क	३ मासा
१५ चांदी वर्क	२ तो०
१६ चौसठ प्रहरी पीपल	२ तो०
१७ गिलोय सत्व	३ तो०
१८ भीमसेनी कपूर	३ तो०
१९ केशर	२ तो०
२० विष मुष्टी, शुद्ध	२ तो०
२१ पीपला मूल	३ तो०
२२ जाय फल	३ तो०
२३ जावित्री	३ तो०
२४ इलायची छोटी	३ तो०

२५ लोंग	३ तो०
२६ श्वेत मिरच	३ तो०
२७ अहि फेन	१ तो०

सब को एकत्र कर नागरबेल के पान के रस से घोंटे।

शुष्क होने पर—

दार चीनी के क्वाथ तमाल पत्र के क्वाथ की १-१ भावना दें। पश्चात् ११५० पान के पत्तों के रस की भावना दे कर आधा २ रत्ति की गोलियाँ बनालें।

चांदी या स्वर्ण की डिबिया में रखें। अनुमान भेद से संपूर्ण रोगों पर व्यवहार करें।

केवल इस प्रयोग से ही बम्बई के एक सुविख्यात वैद्य लाखों के धनी थे तथा धनिक समाज में प्रतिष्ठित।

७ सूर्य प्रभा बिन्दु—

१ रुह नारङ्गी	३ तो०
२ रुह संदल	२ तो०
३ रुह जाय फल	२ तो०
४ रुह बादाम	२ तो०
५ सत अजवायन	४ तो०
६ सत प्याज	३ तो०
७ रुह पान	३ तो०
८ भीमसेनी कपूर	४ तो०
९ सत पोदीना	४ तो०
१० सत सौंफ	४ तो०
११ रुह इलायची	४ तो०

१२ रुह लोंग २ तो०
१३ रुह केशर २ तो०
१४ सत अद्रक ४ तो०
१५ सत नीम्बू ३ तो०
१६ रुह केवड़ा ४ तो०
१७ रुह दारचीनी ३ तो०

सब को मिला शीशी में भर मजबूत कार्क लगा दें। दो दिन तक बार २ हिलाते रहें। औषधी तैयार है।

मात्रा—बच्चों को आधी बूंद से १ बूंद तक, बड़ों को ३ से ४ बूंद तक दें। रक्त विकार जीर्ण ज्वर, वमन, अतिसार, कुष्ठ, नपुंसकता, श्वास, कास, नेत्र दोष, उदर विकारों पर पूर्ण-परीक्षित प्रयोग है। वैद्य अवस्थानुकूल हर रोग पर व्यवहार कर सकते हैं। शतशोनु भूत योग है।

८ गैं सान्तक वटी—

उदर विकारों पर—

१ सत नीम्बु ६ मासा
२ लोंग २ तो०
३ चित्रक २ तो०
४ यवक्षार २॥ तो०
५ कुचला शुद्ध २॥ तो
६ सोंठ २॥ तो
७ जीरा श्वेत २ तो०
८ हींग १ तो०
९ सुहागा २ तो०

१० संचर नमक	२॥ तो०
११ नौसादर पुष्य	२॥ तो०
१२ काली मिरच	१ तो०
१३ पीपल छोटी	२ तो०
१४ पीपला मूल	२ तो०
१५ अम्ल वेद	२ तो०

सब को पीस वस्त्र पूतकर (लसुन) रसोंन के स्वरस से भावित करे, पश्चात् सहजने के स्वरस से भावना दे कर ३-३ रत्ति की गोलियां बनालें। समस्त उदर रोगों पर अवस्थानुकूल गम जल से दें। अपधनगत विकृति विष्टब्धाजीर्ण आदि विकार इसके सेवन से सदा शान्त होते हैं।

६ अश्मरि (पथरि)—

१ पिसी हुई शुद्ध हल्दी को गुड़ के साथ मिला कांजी के साथ पीने से बहुत पुरानी पथरी भी नष्ट हो जाती है। प्रातः निराहार. तथा सायं भोजन से दो घंटा पूर्व पिलावें।

हल्दी का शोधन—

हल्दी के छोटे-छोटे टुकड़े कर चूना (कली) के स्वच्छ पानी में भिगो दें। ३ दिन भीगने पर पानी प्रायः सूख जायगा। हल्दी की पिष्टी बना लें तथा सुखा लें। पानी इतना ही डालें जिससे ३ दिन में हल्दी उसे आत्मसात कर ले। इसे गुड़ कांजी के साथ सेवन करने से पुरानी से पुरानी पथरी गलकर निकल जाती है।

२—२ मासा जवा खार, २ मासा कच्चा तेलिया सुहागा। दोनों को पीसकर गोखरु के रस के साथ पीने से पथरी गल कर

निकल जाती है, गोखरु यदि ताजा मिले तो सुन्दर अन्यथा शुश्क लेकर क्वाथ कर लें। क्वाथ अष्टावशेष होना चाहिये।

३—नीम की पत्तियों का २ मासा क्षार वासी पानी के साथ पीने से ११ दिन में पथरी गल जाती है।

१० मूढ गर्भ—

अधो पुष्पी च विख्याता मूढ गर्भापकर्षिणी।

अधो पुष्पी बूटी, जो त्र्यम्बकेश्वर नासिक के पहाड़ पर गोमती के स्रोत की ओर जाते समय मार्ग में पौडियों के दोनों ओर मिलती हैं।

बांदा जिले के बड़ी बड़ोखर के खेतों में पाई जाती है। इसके सेवन से मूढ़ गभ शीघ्र प्रसव की ओर अग्रसर होता है।

इसके रस को वस्त्र पूतकर मूढ गर्भ से पीड़ित रुग्णा के नासिका में पिचु द्वारा डालना चाहिये। तथा स्वरस को पेट पर मालिस धीरे २ करें। साथ ही दो तो स्वरस को रुग्णा को पिला दे। इस प्रकार करने से रुग्णा स्वस्थ हो जाती है। तथा प्रसव ठीक हो जाता है।

११ ताल सत्व—

५ तो० भिलावा ! ४ तो० वर्कि हरताल।

दोनों को कूट पीस, थुहर के दूध से भावित करें। २४ घंटे घोटें। पश्चात् सुखा, कूपी पाक विधि से १० घंटे पाक करें। ऊपर लगे सत्व को सावधानी से निकाल लें। सभी रक्त-विकारों एवं कुष्टादिकों पर अनुपान भेद से प्रयोग करें।

इसके सेवनकाल में नमक का पत्थ्य रखें। यदि कुछ लेना ही पड़े तो किंचित सेंधा नमक ले सकते हैं।

१२ अर्बुद बाण (अर्क)—

कैन्सर रोग की विशेष उपयोगी औषध—

१ सोंफ	१० पाठा
२ त्रिफला	११ चिरोंजी
३ मजीठ	१२ जीरा श्वेत
४ ब्राह्मी	१३ अतीस
५ काली मिरच	१४ नेत्र वाला
६ गिलोय	१५ हल्दी
७ गूगल	१६ दारु हल्दी
८ राल	१७ रसोन (लहसुन)
९ पीपल छाल	१८ पत्रज
	१९ गज पीपल

२० विजय सार	३१ खेरेटी कीजड़
२१ कूठ	३२ गंगे रन
२२ उन्नाव	३३ वेरी
२३ शालपर्णी	३४ गुदनी
२४ पृष्ठ पर्णी	३५ अश्वत्थ (पीपल)
२५ वकायन छाल	३६ नीम
२६ वरणा छाल	३७ ब्रह्म वृक्ष (ढाक)
२७ अरलु छाल	३८ बड़ की छाल
२८ गंभारी	३९ कंट कारी
२९ पाढल	४० वन गोभी
३० काकोली	४१ कचनार की छाल

४२ क्षीर काकोली
४३ मेदा
४४ महा मेदा
४५ फूल प्रियंगू
४६ अखरोट की छाल
४७ गूलर की छाल
४८ ताड़ छाल
४९ पुनर्नवा
सब १००-१००—ग्राम।

---

५० धमासा के फूल जड़, सब के बराबर।
५१ महुआ के फूल।
५२ धाय के फूल।
५३ द्रोण पुष्णी (गोमा)।
५४ मुलहटी।
५५ शीतल चीनी।
५६ गुंजापत्र।
५७ ब्रह्म दण्डी।
५८ शंख पुष्पी।
५९ नागर मोथा।
६० कास मूल।
६१ पलास पापड़ा।
६२ विजय सार।
६३ बबूल के फूल।
६४ सत्यानाशी की जड़।
६५ बावची।
६६ कन्यारज (स्वर्ण गैरिक)।
६७ काली जीरी।
६८ कुश मूल—५००-५००—ग्राम।

सबको एकत्र कर भिगो दे। ३ दिन बाद भींगने दें अर्क खींचे। इसे सर्व प्रकार के अर्बुदों पर प्रयोग करें। उत्तम लाभ कारी योग है। हम इसे, सप्तामृत योग के साथ दे ते हैं।

कैन्सर के रोगियों पर ५० प्रतिशत पूर्ण लाभ कर है। यदि प्रारम्भिक अवस्था में इसका प्रयोग पंच-कर्म करा कर किया जाय तो यह योग शत-प्रतिशत लाभ प्रद है।

१३ राज रसायन—

१ चित्रक छाल	१० किलो।
२ गिलोय (ताजी)	१० किलो।
३ आंवला (ताजा)	१० किलो।
४ दशमूल	६ कि० ४०० ग्राम
५ हरड़ (उत्तम) का छिलका	६ कि० ४०० ग्रा

६ परिशुद्ध हरिद्रा २ किलो।

सबका क्वाथ पृथक् २ करें हरड़ एवं दशमूल का क्वाथ एक साथ करें। चतुर्थांश शेष रहने पर सब क्वाथ मिला दे।

आंवले की पिट्ठी बना घी में भूने, २० कि० गुड़ डाल अवलेह जैसा होने पर प्रक्षेप द्रव्य डालें।

प्रक्षेप द्रव्य—

छोटी इलायची	२०० ग्राम
दारचीनी	२०० ग्राम
तेजपात	२०० ग्राम
सोंठ	” ”
काली मिरच	” ”
बड़ी पीपल	२०० ग्राम

सब का वस्त्र पूत चूर्ण डाले मिला दें शुद्ध मधु १ किलो ६०० ग्राम मिला वें।

यवक्षार ५० ग्राम मिलाकर सुरक्षित रक्खें—

कास, श्वास, उदर शुद्धि कर हैं। पूर्णतया अनुभूत योग है। यह योग कब्ज आनाह आदि को दूर कर शौच शुद्धि कर है तथा कास, श्वास के लिए अमृत स्वरूप है।

१४ पामादद्रुहर मलहर—

१ किलो कुचला को धतूर स्वरस, मदार स्वरस में भिगो दे—फूलने पर निकाल उष्णोदक् से धो छिलका उतार उपरोक्त दोनों द्रव्यों के स्वरस से पिष्टी वना लें। अच्छी प्रकार पिष्ठी होने पर, खोपड़े का तेल तथा कपूर मिला घोंटे। मलहर तैयार है।

इसे सब प्रकार के रक्त विकारों पर दद्रु पामा (खारिस) आदि पर पूर्ण परीक्षित। कैन्द्रु (कद्रुक) तेल का प्रयोग भी रक्त विकारों पर परीक्षित है।

१५ अग्नि स्थायी शोरा।

कल्मी शोरा प्रायः सभी जगह प्राप्य है। इसे शरीर के लिए उपयोगी बनाने के लिए इसे शुद्ध कर व्यवहृत किया जाता है।

शोधन विधी—

१–कल्मी शोरा २ किलो, १ किलो उष्णोदक में मिला मिट्टी के वर्तन में रख दें। इससे यह प्रवाही वन जायगा। १ घंटा बाद इसे वस्त्र पूत कर लें, बाद ३ घंटे नीचे वर्तन में सलाखों के रूप में मिलेगा। उसके ऊपर का पानी नितार कर धूप में सुखा लें। सूख जाने पर उपयोग में लें।

२ कल्मी शोरा को अग्नि पर प्रवाही वना तेज अग्नि दें, ठोस होने पर अग्नि बन्द कर दें।

३ शोरा को सीधें अग्नि के कोयलों पर रखें प्रवाही हो कर जम जायगा।

४ स्थायी बनने पर अग्नि पर पथावत् रहेगा न पिघ लेगा न धूंवा देगा।

५ कल्मी शोरा को, निम्न औषधों के योग से स्थायी बनावें।

कल्मी शोरे को जो पूर्व शुद्ध किया जा चुका है। कड़ाही में डाल अग्नि दें। ध्यान रहे इस में पकते समय १ बूँद भी पानी न पड़े, यदि गल्ती से ऐसा हो गया तो उसमें आग लग जायगी तथा जलने का भय है। अतः सावधानी पूर्वक इस क्रिया को करें। शोरा को काड़ाही में चढ़ा मन्द अग्नि दें, १५-२० मिनट वाद गर्म होने पर अग्नि बढ़ा दें। प्रवाही होने लगेगा, पूर्ण रसवत हो ने पर एक इमली का बीज जो पूर्व तैयार है, डाल दें, बीज जलने लगेगा, कड़ाही में जलता हुआ इधर-उधर घूमेगा। जल ने पर एक ओर लग जायगा, फिर दूसरा बीज डाल दें। इस प्रकार पाव भर बीज जला दें, इस प्रकार करने पर शोरक अग्नि पर ही ठोस, हो जायगा। ठंडा होने पर कड़ाही से निकाल लें। इसमें कुछ कठिनाई होगी, पर घबरावें नहीं, कड़ाही को कुछ गर्म कर पैन्दे में १-२ बूंद तिल के तैल की डाल दें, इससे शीघ्र छूट जायगा। बीजों की राख को पथक् शीशी में भर रखे, शोरे को पीस पथक् रखें। यह शोरा अतीव गुण कारी एवं सब योगों में व्यवहार करें।

व्यवहार—मुत्रावरोध रक्ता मिसरण वृक्क, नलिका शोथ आदि में हृदामय, प्लीहा, नेत्र, वातरक्त, कुम्भ कामला, श्वास, शूल, आध्मान, आदि में व्यवहार करे।

कर्पूर तैल—

देशी कपूर, नारियल की गिरी सम भाग लेकर उत्तम पत्थर खरल में एक प्रहर तक घुटाई करें। प्रथम गिरी को वारीक होने तक घोंटे फिर कर्पूर मिला दें, एक जीव हो ने पर मिट्टी के दो वर्तन एक समान नाप के लें, नीचे द्रव्य डाल कर संधि वन्धन कर दें। एक दो लकड़ी की अग्नि दें। या फिर कोयले की मन्दी-मन्दी आंच पर रखें। ऊपर के वर्तन पर गीला कपड़ा रखें। एक प्रहर मन्द आँच दें फिर स्वांग शीतल हो ने पर नीचे उतार सन्धि बन्धन खोल ऊपर नीचे के द्रव्य को खुरच कर पुनः उसके सम भाग नारियल की गिरी मिला ७-८ बार इस क्रिया को करें।

इस प्रकार करने से वायु से तैल रूप हो जायगा, इसमें पारद अग्नि स्थायी होता है, तथा गंधक का तेल भी निकल सकता है।

१५ अभ्रसत्व पातन—

बज्राभ्रक परिशुद्ध कर कूट छान, बकरी का दूध, बकरी मेंगनी आधा-आधा किलो, अभ्र २ किलो, सुहागा आधा किलो, सब मिला घोंटे। श्लक्षण चूर्ण बनने पर मूसा में डाल तेज कोयले की अग्नि पर तपावें, ४ घंटे की तीव्र अग्नि दे देने पर अभ्र सत्व प्राप्त होगा।

यह सत्व दानेदार और उत्तम होगा। गुंजा चूर्ण गुड़, मधु, घृत का प्रक्षेप भी दिया जायगा तो और उत्तम सत्व प्राप्त

होगा। इसकी भस्म सब प्रकार के रोगों पर सद्यः लाभ कारी है।

विचित्र रसायन—

१ कत्था	५ तो०	२ मुक्ता शुक्ति	४ तो०
३ चिकिनी सुपारी	२ तो०	४ मुलहटी सत्व	३ तो०
५ लोंग	६ मासा	६ इलायची छोटी	६ मा०
७ कवाव चीनी	२ मासा	८ दार चीनी	६ मासा
९ जावित्री	६ मासा	१० जायफल	६ मासा
११ केशर	६ मासा	१२ पानड़ी	३ मासा
१३ कपूर कचरी	३ मासा	१४ तगर	३ मासा
१५ तेजपात	३ मासा	१६ कुलंजन	६ मासा
१७ कवाव खंदा	६ मासा	१८ छैल छरोला	३ मासा
१९ नागर मोथा	३ मासा	२० वाल छड़	३ मासा
२१ श्वेत चन्दन	३ मासा	२२ पीपर मेट	३ मासा
२३ कपूर	३ मासा	२४ कस्तूरी	३ मासा
२५ अम्बर	६ मासा	२६ मोती	३ मासा
२७ इत्र खस	६ मासा	२८ इत्र केवड़ा	६ मासा
२९ रुह गुलाब	२ मासा	३० इत्र संदल	३ मांसा
३१ रुह सौंफ	१ छ०	३२ इत्र गुलाब	२ मासा
३३ मल्लजोंहर	९ मासा	३४ हिंगुल शु०	६ मासा
३५ सत धतूरा	६ मासा	४६ अहिफेन	६ मासा
३७ चरस	६ मासा	३८ चांदी वर्क	६ मासा
३९ वर्क सोना	३ मासा।		

सब को मिला चन्दन की लकड़ी से अर्क वेद मुष्क डालते जावे और घोंटते जावे। अनुमान एक सीक भर कर पान में

खिलावें शक्ति वर्धक रसायन है। यह योग एक महाराजा व्यवहार करते थे।

कफ निःसारणार्थ—

पुराना अमचूर आधापाव, आक के पत्ते एक पाव, ५ चो नमक, आधा-आधा पाव सब को नीम्बू के रस में भावित कर पान के पत्तों पर लेपन कर दें। ऊपर नीचे रख गज पुट में फूक दे। स्वांग शीतल होने पर निकाल पीस सुरक्षित रखे। मात्रा २ रत्ति गर्म पानी से दें २५ से ३० वर्ष की आयु वालों को दही के समान कफ निकलेगा, पत्थ्य मूंग की दाल रोटी दें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत् ॥

शम्—

जीन्द मंडलान्तर्गत, (सर्पदमन)
सफीदों अभिजन वास्तव्यः
आ०—मार्तण्ड पं० रामस्वरूप शास्त्री आयुर्वेदाचार्यः